बिमल रॉय

बिमल रॉय

रिंकी भट्टाचार्य

मध्यप्रदेश फिल्म डेवलपमेंट
कारपोरेशन लि.

विमल रॉय : रिकी भट्टाचार्य
स्वत्वाधिकार : लेखकाधीन
संपादन : श्रीराम तिवारी
अनुवाद : सुधीर दीक्षित, राजा दुबे, श्रीकांत तिवारी,
श्रीराम तिवारी, सुरेश स्वप्निल

आभार : आरती दासगुप्ता, कमल बोस, सुधेंदु बोस, शशिकपूर,
नबेन्दु घोष, तपन सिन्हा, ऋषिकेश मुखर्जी, असित सेन,
कोची मित्र, परिमल राय

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, बाबू लाभचंद छजलानी मार्ग, इंदौर

प्रकाशक : मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम मर्यादित
ई १/९०, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-४६२ ०१६

मूल्य : ४५/- रुपए साधारण संस्करण
६०/- सजिल्द

बिमल रॉय निर्विवाद रूप में भारतीय सिनेमा के पथ-प्रदर्शक फिल्मकार हैं। उन्होंने जहाँ तत्कालीन तकनीक की सीमाओं से परे जाकर नए प्रयोगों से सिनेमा को नया विकास और विस्तार देने की कोशिश की, वहीं मानवीयता, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक प्रासंगिकता के गुणों से उसे सम्पृक्त भी किया। आज भी हमारे मुख्यधारा के सिनेमा के लिए ये गुण बहुत दूर की बात है। वास्तव में बिमल रॉय के सिनेमा में निहित सघन मानवीयता का गुण ही उन्हें अपने समकालीनों से सर्वथा अलग बनाता है। यहाँ यह बात भी गौर-तलब है कि सत्यजीत रॉय की 'पथेर पांचाली' को अंतरराष्ट्रीय चर्चा मिलने के कोई दो वर्ष पहले ही बिमल रॉय अपनी सर्वकालिक कृति 'दो बीघा जमीन' के माध्यम से भारतीय सिनेमा की विश्व सिनेमा दृश्य में एक उल्लेखनीय पहचान बना चुके थे। उनकी सिनेमा कृतियाँ-उदेयर पाथे, पहला आदमी, दो बीघा जमीन, परिणीता, सुजाता, भारतीय सिनेमा की धरोहर हैं।

महत्वपूर्ण भारतीय फिल्मकार बिमल रॉय के सृजनात्मक अवदान के आकलन स्वरूप फिल्म-आलोचक श्रीमती रिंकी भट्टाचार्य की यह पुस्तक प्रस्तुत है। हमें उम्मीद है कि यह न केवल बिमल रॉय की सिनेकला की विशेषताओं और सीमाओं से साक्षात्कार कराने में सहायक होगी, बल्कि स्व. रॉय के बहाने भारतीय सिनेमा के अनेक जाने-अनजाने पक्षों से भी परिचित कराने में मददगार साबित होगी।

हमें भरोसा है कि विशाल पाठक समुदाय द्वारा राजकपूर पर प्रकाशित पुस्तक की तरह ही इसका भी स्वागत होगा।

ललित कुमार जोशी
प्रबंध संचालक

शरत्चंद्र की क्लैसिक कृतियों का फिल्मांकन

''विवादों के बावजूद शरत्बाबू की क्लैसिक रचनाओं के प्रति आज भी मेरे मन में दुर्निवार और अटूट आकर्षण है.....
.....यदि फिर शरत्बाबू की किसी क्लैसिक रचना का अवसर मुझे मिले तो मैं अपने को धन्य समझूँगा।
बिमल रॉय, (श्रेष्ठ निर्देशन के लिए फिल्म फेयर पुरस्कार से सम्मानित)

एक फिल्म निर्माता के लिए किसी क्लैसिक कृति का फिल्मांकन सचमुच एक लुभावना आकर्षण है। सम्मान तो उससे मिलता ही है। जिन भी देशों में फिल्में बनती हैं वहाँ क्लैसिक कृतियाँ फिल्मांकित की है।

शेक्सपीयर, डिकेन्स, ह्यूमा, टाल्सटॉय और अन्य महान् साहित्यकारों की कृतियों पर बारबार फिल्में बनायी गयी हैं। इसी प्रकार भारत में कालिदास, बाणभट्ट, बंकिमचंद्र, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ और

शरत्‌बाबू की कृतियों पर फिल्में बनाई गई हैं। इनमें से शरत्‌बाबू की रचनाओं पर तो इन सभी रचनाकारों की अपेक्षा अधिक फिल्में बनी। वे हमारे सबसे लोकप्रिय रचनाकार थे, जिनकी कृतियों का बहुधा फिल्मांकन किया गया।

इसके कारण बहुत ठोस हैं। शरत्‌बाबू की प्रत्येक कथा में कथावस्तु का विन्यास बहुत सुघड़ है, चरित्रांकन खूब प्रभावशाली है, जो सच्चाइयों से भरा हुआ किन्तु नाटकीय स्थितियों से घिरा हुआ है और उसके संवाद बहुत प्रभावकारी हैं। इनका समूचा प्रभाव मन पर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ता है। फिल्म निर्माता के लिए महत्वपूर्ण बातें फिल्म बनाने के लिए बहुत उत्तम सामग्री है।

अभी तक मैंने शरत्‌बाबू की तीन रचनाओं पर फिल्में बनाई हैं— **परिणीता, बिराज बहू** और **देवदास** और निश्चयपूर्वक मैं कह सकता हूँ कि शरत् की कथा' फिल्म निर्माण के लिए बहुत मूल्यवान सामग्री प्रस्तुत करती है। लेकिन उसे फिल्म में बदलना कोई आसान काम नहीं है। शरत्‌बाबू की किसी रचना पर फिल्म बनाते समय फिल्मकार को प्रायः यह लगता है कि इससे भी अच्छा इसका फिल्मांकन संभव है और वह निरंतर वैचारिक मंथन करता रहता है।

शरत्‌बाबू ने अपनी कथाओं में जो चरित्र प्रस्तुत किये हैं, वे फिल्म निर्माता के सामने पहली समस्या के रूप में उपस्थित होते हैं। अपनी निजी विशेषताओं के अलावा शरत्‌बाबू के कथापात्रों का चरित्र चित्रण, उस पात्र के कृत्यों और व्यवहारों का बहुविध आशय प्रकट करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को नितांत भिन्न संदर्भ में देखा जा सकता है। ऐसी दशा में यह अस्वाभाविक नहीं है कि इन क्लैसिक रचनाओं को पाठकवर्ग शरत्‌बाबू के सही आशय प्रगट करने के लिए फिल्म निर्माता पर दोषारोपण करे? किन्तु क्या सचमुच इसके लिए फिल्म निर्माता को दोष दिया जा सकता है?

समीक्षा के इतिहासवृत्त के अंतर्गत प्रत्येक युग में इन क्लैसिक रचनाओं का नया विश्लेषण मिलता है। इन क्लैसिक कृतियों की व्याख्या में समय पर इन व्याख्याकारों ने प्रतिकूल दृष्टिकोण तक व्यक्त किये हैं।

जैसा कि सुप्रसिद्ध फिल्म समीक्षक रोजर मानवेल का कथन है— उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में हेमलेट की व्याख्या एक रुग्ण आत्मा के रूप में की जाती थी जिसे महान स्पेनिश साहित्य समालोचक साल्वाडोर डी माडारिगा ने धाराशयी कर दिया। उन्होंने हेमलेट की व्याख्या एक

आत्मकेन्द्रित और ऐसे व्यक्ति के रूप में की है जो अपने निजी हितों और भावनाओं के घेरे के बाहर कर्तव्यों और संबंधों को स्वीकार नहीं करता और उसके इर्दगिर्द एक धूर्त व्यक्ति का आभास होता है।

सर लारेंस ओलिवर के द्वारा इस पात्र का चित्रण दिलचस्प है। वे उस पात्र की भूमिका एक ठंडे गर्व और विचार के साथ करते हैं जो उन्हें हेमलेट के वास्तविक चरित्र की माडरिगा की कल्पना के काफी नजदीक ले आती है।

ओलिवर की इस व्याख्या से मान्यता मिली क्योंकि जो लोग शैक्सपीयर को पढ़ते हैं वे हेमलेट का आत्म निरीक्षण नहीं भूलते किन्तु ओलिवर के 'विवादी' पात्र जान बैरीमूर के चित्रण से जो उसने एक फिल्म माध्यम में किया है, बहुत भिन्न है।

क्या शरत्बाबू की कहानी को इस ढंग से स्वीकार किया जा सकेगा?

हमारे देश में एक बड़ी प्रवृत्ति यह है कि लोग ऐसी फिल्मों को उनके पुराने फिल्मों संस्करणों से तुलना करके देखते हैं और कभी भी मूल क्लैसिक रचना से मिलाकर नहीं देखते जिस पर वह आधारित है। चलचित्र देखने वाले कितने लोग सावधानीपूर्वक इस बात को पढ़ने की चिन्ता करते हैं कि शरत्बाबू ने क्या लिखा? और जब वे उनकी कथाओं के फिल्मी रूपांतरण को देखते हैं तो कितने हैं जो ऊपर की बात को याद करते हैं।

शरत्बाबू की क्लैसिक रचना की कथा सामग्री फिल्म निर्माता की दूसरी समस्या है। यदि फिल्म निर्माता ने शरत्बाबू की कहानी में इधर-उधर कुछ परिवर्तन कर दिया तो हमारे समीक्षक बंधु चीखने लगेंगे कि निर्माता ने इस संबंध में अपराध कर डाला है। उसे आस्थापूर्वक शरत्बाबू के प्रति निष्ठावान रहना चाहिए और रचनाकार के निजी विन्यास का अनुसरण करना चाहिए और इस संबंध में वे और अधिक विस्तृत जानकारी की माँग करेंगे।

जहाँ शरत्बाबू के द्वारा केवल संकेत से ही सूक्ष्मता से प्रेम की परिपूर्णता का प्रदर्शन किया गया है, ऐसे स्थलों में समीक्षकों का एक वर्ग चिल्लाकर इस बात के लिए शोर करेगा कि क्लैसिक कृति के अनुसार ही फिल्म निर्माता वास्तविक रूप में उसका चित्रण करें और इस बात का स्मरण न करेंगे कि शरत्बाबू ने इस विषय का चित्रण किस प्रकार किया है और यह भी न समझेंगे कि फिल्म एक भिन्न कला प्रकार है जिसे अपनी सामग्री का उपयोग अपनी जरूरतों के अनुसार करना होता है।

मान लीजिए कि समीक्षकों के आग्रह को मानकर ऐसा करते हैं तो क्या समीक्षकगण संतुष्ट होंगे? मैं ऐसा नहीं सोचता और परिणाम फिर वही होगा। फिर कहा जायेगा कि अपवित्र काम किया गया है और स्वतंत्रता लेने के लिए लाठियाँ घुमाई जायेंगी।

इसके अलावा शरत्बाबू की क्लैसिक कृतियों के आधार पर तीनों फिल्में बनाते समय मुझे कुछ अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु वे तकनीकी किस्म की कठिनाइयाँ थी जिनका उल्लेख पाठकों को रुचिकर न लगेगा।

मेरे कहने का प्रयोजन यह है कि क्लैसिक कृतियों को फिल्माने विशेष रूप से शरत्बाबू की क्लैसिक कृति को फिल्माने का काम किसी भी फिल्म निर्माता के लिए एक जटिल काम है। इसका मतलब है अनगिनित विवाद किन्तु इस लेखक की कृतियों पर फिल्म बनाने को लोभ कौन संवरण कर सकता है?

शरत्बाबू की कहानियाँ खूब सुगठित हैं, वे मानवीय, यथार्थपरक, मार्मिक और पावन हैं। उनके संवादों में जादू हैं। शरत्बाबू की कोई भी क्लैसिक कृति फिल्म निर्माता के लिए बाक्स ऑफिस की उत्तम सामग्री प्रस्तुत करती है और दर्शक समुदाय का उससे श्रेष्ठ मनोरंजन होता है। शरत्बाबू की क्लैसिक कृतियों को फिल्माने के कारण उत्पन्न विवादों के बावजूद इस महान् बंगाली साहित्यकार की कृतियाँ फिल्म निर्माताओं को निरंतर आकृष्ट करती रहती हैं।

शरत्बाबू की क्लैसिक कृति के फिल्म निर्माता अच्छी फिल्म बनाने के कारण कलात्मक गौरव प्राप्त करते हैं और दर्शकों के चित्त का परिष्कार उसी तरह करते हैं जिस तरह उनकी किसी मूल कहानी को पढ़कर होता है। बावजूद विवादों के शरत् की क्लैसिक कृतियाँ आज भी मेरे लिए बहुत प्रिय और दुर्निवार आकर्षण की सामग्री है।

मनोरंजन प्रदान करने के साथ-साथ प्रत्येक फिल्म निर्माता का अन्य बातों के साथ-साथ यह भी सामाजिक दायित्व है कि वह अपने देश की साहित्यिक विरासत के श्रेष्ठ अवदान को अपने देशवासियों के कल्याण के लिए प्रस्तुत करे।

यदि फिर शरत्बाबू की किसी क्लैसिक कृति को फिल्माने का अवसर मुझे मिला तो मैं स्वयं को धन्य मानूँगा।

☐ **बिमल रॉय**

१९५९ में मास्को में हुए पहले अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में बिमल रॉय द्वारा दिया गया जूरी वक्तव्य....

इन दिनों सिनेमा लोगों के बीच समझ विकसित करने का प्रमुख साधन बन गया है। हमारी पीढ़ी में जबकि प्रौद्योगिकी ने संसार की दूरियों को विजित करके उसे छोटा बना दिया है, सिनेमा मानव की मदद करने वाला सबसे महत्वपूर्ण साधन हो गया है जिसके द्वारा वह अपनी जिम्मेदारियों और सम्भावनाओं को समझता है, क्रियाशीलता के नये क्षेत्रों को पहचानता है और तरह-तरह के लोगों के बीच नये सम्बन्धों के सौंदर्य को महसूस करता है।

सारे राजनीतिक मतभेदों के बावजूद मनुष्य सार्वभौमिक नातेदारी को पहचानने लगा है। सारी कलाएँ इस विचार को बढ़ावा देती हैं परंतु सिनेमा का योगदान सबसे अधिक है। मानव अधिकारों के लिए संघर्ष की, यह मायने नहीं रखता कि वह कहाँ हो रहा है, अवहेलना नहीं की जा सकती। लोग अब इस बात से और भी ज्यादा वाकिफ हैं कि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण खत्म होना चाहिए और हर एक को मानव जीवन की

त्रासदी से उबरने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें यह महसूस करना चाहिए कि वास्तविक उन्नति पूरी तरह से मानव के मूलभूत अधिकारों की प्राप्ति पर निर्भर करती है।

निस्संदेह ही सिनेमा इन विचारों को लोगों तक पहुँचाने में सबसे बड़ी भूमिका निभाई है। हालाँकि इन पवित्र आदर्शों को प्रोत्साहित करनेवाली फिल्मों की संख्या सीमित है, फिर भी दर्शकों पर सबसे अधिक भावनात्मक प्रभाव इन्हीं फिल्मों का पड़ता है। संसार की उत्कृष्ट रचनाओं जैसे डी सिका की **बाइसिकल थीव्ज** में हमें भ्रष्ट आर्थिक तंत्र या शोषण तंत्र, जो मानव को नैतिक पतन के रास्ते पर ढकेलते हैं, को उजागर करती फिल्में मिलती हैं।

इस समारोह में कुछ फिल्में थीं जिनमें जातिभेद की निंदा की है और कुछ फिल्में थीं जिनमें युद्ध के दौरान हमारी आध्यात्मिक और शारीरिक पीड़ा का भावनात्मकता के साथ चित्रण किया गया है। ऐसी भी फिल्में थीं जो हर प्रकार के सामाजिक अन्याय से सरोकार रखती थीं जो हमारे सामाजिक ढाँचे में अंतर्निहित हैं।

मैं सेर्गेई वान्डरचुक की **द डेस्टिनी ऑव् मेन** को इस समारोह की सर्वोत्कृष्ट फिल्म कहना चाहूँगा। यह हृदयस्पर्शी मानवीय दस्तावेज उस मनुष्य की त्रासदी है जिसे युद्ध ने हर उस चीज से महसूस कर दिया है जिसे वह चाहता है। फिल्म युद्ध को असामान्य वास्तविकता के साथ चित्रित करती है। इस फिल्म का दुर्भाग्यशाली नायक उन सभी लोगों का प्रतिनिधि है, जो युद्ध के शिकार हुए हैं। मैं यहाँ यह भी जिक्र करना चाहूँगा कि यह हृदयविदारक फिल्म विश्व-युद्धों द्वारा उपजने वाली त्रासदियों के खिलाफ एक सामयिक चेतावनी है।

मैं आशा रखता हूँ कि **द डेस्टिनी ऑव् मेन** को सभी देशों के लोग—सर्वसाधारण और राजनेता—देख सकेंगे। और हर एक अपने-अपने सामाजिक स्तर पर इससे प्रभावित होकर एक और युद्ध टालने का प्रयास करेंगे। मेरी दिली इच्छा है कि ऐसी फिल्में हमारी बंबई में भी बनें।

यह हमारे राष्ट्रीय सिनेमा की मूलभूत छवि को बदलने में सहायक होगा।

केवल शासकीय सहायता निर्माताओं की हालत सुधार सकती है

मैं प्रमुख रूप से निर्देशक हूँ । मेरी दृढ़ धारणाओं और सौंदर्यबोध को महफूज रखने के लिए मेरे पास निर्माता बनने और आर्थिक समस्याओं का सामना करने के सिवा और कोई चारा नहीं था।।

इस उद्योग के बारे में जो भी मैं पहले जानता था वह अब में ज्यादा शिद्दत के साथ महसूस करने लगा हूँ। पर जो भी मैं महसूस करता हूँ वे विशुद्ध व्यक्तिगत भावनाएँ हैं और जरूरी नहीं कि वे फिल्म उद्योग के सभी पहलुओं को प्रतिबिंबित करें।

आर्थिक पहलू पर गौर करने से पहले मैं यह स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि फिल्म उद्योग कोई सूत, वस्त्र या लौह जैसा उद्योग नहीं है। उद्योग शब्द सरकार को उचित प्रतीत हो सकता है क्योंकि आर्थिक दृष्टि से फिल्में उनके लिए लाभकारी होती है। इसके अलावा हर उद्योग में साधारणतः एक तंत्र होता है और उस उद्योग से संबद्ध व्यवसायियों के पास न्यूनतम लाभ व सुरक्षा की गारंटी देने वाली चीजें होती हैं।

दूसरों का पैसा

परंतु दुर्भाग्य से फिल्म उद्योग में सुरक्षा जैसा कोई शब्द नहीं है। न केवल फिल्मी सितारे बल्कि आकाशी सितारों ने भी सुरक्षा को असंभव बना दिया है। इस उद्योग में फिल्म वस्तु होती है जिसे मनुष्य की अंतरात्मा को बेचा जाता है जो बड़ी संवेदनशील होती है और इसलिए लगातार हानि और लाभ होता रहता है। सीधे-सादे ढंग से कहा जाए तो हमारे फिल्म उद्योग द्वारा अपनाए गए इस तंत्र ने आर्थिक पहलू को अंधकारमय बना दिया है और निकट भविष्य में संकट झूल रहा है।

अन्य उद्योगों में एक व्यवसायी या तो खुद या सामूहिक रूप से पैसा लगाता है। पर फिल्म उद्योग में ऐसा नहीं होता। यह एक विशाल क्षेत्र है जहाँ बहुमत थोड़ी-सी पूँजी से शुरुआत करता है और फिर वितरकों से संपर्क स्थापित करते है। वह थोड़ी-सी पूँजी भी सबके पास नहीं होती और वे **फायनेंसर्स** से ब्याज की ऊँची दरों पर उधार लेते हैं। वितरक बिचौलियों के सिवा कुछ भी नहीं है परंतु इन दिनों किसी फिल्म के निर्माण में उनकी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है। क्योंकि वे फिल्म पूरी करने में निर्माताओं की मदद करते हैं, क्योंकि वे उनके जोखिम में भी साझेदार हैं।

वे वितरकों को या तो एम.जी. (मिनियम गारंटी सिस्टम) के द्वारा पैसा देते हैं, जिसमें वितरक एक निश्चित क्षेत्र में एक निश्चित राशि की गारंटी देता है। उदाहरण के लिए रुपए १००० बंबई की एम.जी. है- इसका अर्थ है रुपए १००० निर्माता के लिए निश्चित होते हैं। इस राशि का ६० प्रतिशत निर्माण काल के दौरान अदा किया जाता है और बकाया ४० प्रतिशत पूरे प्रिंट या फिल्म की सुपुर्दगी के समय। इस राशि का पूरा जोखिम वितरक का होता है। पर अधिकतर होता यह है कि केवल कुछ ही वितरक **एम.जी.** के बाद निर्माता को अधिक राशि देते हैं। दूसरा तरीका है एडवांस में अदायगी। इसका अर्थ है रुपए १०० वितरक द्वारा कर दिए जाते हैं परंतु पूरा जोखिम निर्माता का होता है। फिल्म रिलीज होने के बाद यदि यह राशि नहीं निकलती हैं तो निर्माता को यह राशि सय ब्याज के वितरक को देना होती है।

फिल्म उद्योग सरकार को सबसे अधिक फायदा पहुँचाती है, फिर **प्रदर्शकों** को ओर फिर वितरकों को। निर्माता सबसे आखिर में आता है और इस तंत्र में अपने को एक व्यवसायी के बजाए जुँआरी सा महसूस करता है। वह अपने चारों और कला[illegible] और तकनीकी शक्तियों को

सिर्फ इसलिए इकट्ठा करना है कि उसे एक अज्ञात भविष्य की सिहरन मिले और वह अपने ऋणदाताओं में अलोकप्रिय हो जाए।

प्रश्न उठ सकता है कि फिर वह पिक्चर बनाना क्यों जारी रखता है? उत्तर है- निर्माता बॉक्स ऑफिस पर हिट होने की आशा के विरुद्ध आशा करता है और अगर वह एक बार ऐसा कर सके तो वह पुराने नुकसानों की भरपाई कर सकता है। बाकी वस्तुओं से अलग, एक वास्तव में अच्छी फिल्म की उपयोगिता सालों तक रहती है और उससे नियमित प्राप्तियाँ होती रहती हैं।

फिल्म एक अनिवार्य वस्तु नहीं है पर अनिवार्य मनोरंजन है और भविष्य में वह अधिकाधिक महत्व प्राप्त करेगी। परन्तु इस उद्योग के महत्व के बावजूद एक सुरक्षा-तंत्र नही उपजा है जो फिल्म बनाने वालों और उस पर जीवित रहने वालों को सुरक्षा प्रदान कर सकें। यदि यह नहीं किया जाता तो यह उद्योग चंद लोगों का एकाधिकार बन जाएगा जो अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करेंगे। केवल सरकार ही इस उद्योग की दशा सुधार सकती है। यदि यह निर्माताओं को फिल्में वितरित और प्रदर्शित करने में या किसी और तरीके से मदद करने का प्रयास करती है, तभी फिल्म उद्योग हर दृष्टि से फलेगा-फूलेगा।

बिमल रॉय द्वारा पढ़े गए एक सेमिनार परचे पर आधारित

मास्को फिल्म समारोह और इसके बाद

मास्को में हाल ही में हुए अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में जब मैंने जूरी के एक सदस्य के रूप में हिस्सेदारी की तो मुझे तुरन्त ही एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का आभास हुआ, जो पिछले कुछ वर्षों में रूस के फिल्म जगत में हुआ था।

जब मैं १९५५ में सोवियत संघ आया था, रूसी अभिनेत्रियाँ सेट के बाहर मेकअप का प्रयोग नहीं करती थीं। वे दिखने में इतनी सादी नजर आती थीं कि उन्हें अन्य महिलाओं से अलग कर पाना बड़ा मुश्किल था। परन्तु आज वे फ्रांसीसी, इतालवी और हॉलीवुड की अभिनेत्रियों से चमक-दमक और ग्लैमर की होड़ में हैं। चार बरस पहले, फिल्मी कलाकार सरकार के अच्छे कार्यों के सिवा किसी और विषय पर बात तक नहीं करते थे। अब वे अधिक अभिव्यक्तिशील और दोस्ताना नजर आये। वे रूस आने वाले आगंतुकों की जिन्दगी जीने के तरीकों में रूचि रखने लगे हैं। वे इस बार मुझे कम प्रतिबंधित से प्रतीत हुए।

रेड स्क्वेयर में एक शाम मेरी पत्नी और मुझे एक सुन्दर रूसी लड़की मिली, जो मेरी पत्नी द्वारा पहनी गयी साड़ी के प्रति बड़ी आकर्षित हुई। वह उसे पहनने के लिए काफी बेताब थी। वह तो वहीं साड़ी पहनकर देखना चाहती थी। हमारा होटल करीब ही था। हम उसे अपने कमरे में ले गए जहाँ मेरी पत्नी ने उसे साड़ी पहनाने में मदद की। लड़की की खुशी का ठिकाना नहीं था और जब वह गई तो मेरी पत्नी ने उसे एक साड़ी तोहफे में दे दी।

मुझे विश्वास है कि इस तरह की घटना की कुछ साल पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

फिल्म निर्माण की कला और तकनीक के क्षेत्र में रूस ने काफी प्रगति कर ली है। अमरीका के **सिनेरेमा** के बदले उनका जवाब है **सिकोरेगा**। यहाँ फिल्म छह वृत्ताकार पर्दों पर प्रक्षेपित की जाती है। इसका दर्शकों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे अपने आपको फिल्म का एक हिस्सा समझने लगते हैं।

उन्होंने ७५ मि.मि. श्रेष्ठ फिल्म का आविष्कार भी किया है जो एक अर्द्धवृत्त में घूमती है और यह पर्दा सिनेमा स्कोप से बड़ा होता है।

समारोह में श्रेष्ठ फिल्म का पुरस्कार रूसी फिल्म **मैन्स डेस्टिनी** को मिला जो शोलोखोव के उपन्यास पर आधारित है। इसका क्लैसिक की संज्ञा दी जा सकती है और कइयों की नजर में यह उपन्यास से भी बेहतर बन पड़ी है। एक रोचक तथ्य यह देखने को मिला कि समारोह ने मंगोलिया और कोरिया द्वारा फिल्म निर्माण के क्षेत्र में की गयी प्रगति की और सभी भाग लेने वाले देशों का ध्यान आकृष्ट किया। कलात्मक मूल्यों और तकनीकी उत्कृष्टता में, उन देशों में फिल्में, जिनका फिल्म संसार के नक्शे पर फिलहाल कोई स्थान नहीं है, कहीं भी बनायी गयी बेहतरीन फिल्म की बराबरी कर सकती हैं।

समारोह की एक और प्रमुख बात थी जूरी के सदस्यों और भीड़ द्वारा भारतीय फिल्म संगीत की सराहना। **जलसाघर** के संगीत को सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ करार दिया गया। मास्को में बहुत से लोग हमारे फिल्मी गीतों को पसंद करते हैं और उन्हें ठीक-ठीक गाते भी हैं।

वापसी में मैंने पाया कि भारतीय फिल्म संगीत बर्लिन, लंदन और कैरो में भी काफी लोकप्रिय है।

मास्को में मेरी दिनचर्या बड़ी व्यस्त थी। जूरी का सदस्य होने के नाते मुझे एक दिन में चार-पाँच फिल्में देखनी पड़ती थीं। हर फिल्म के

बाद जूरी उस पर विचार-विमर्श करती थी। और शाम को हमें कम से कम एक पार्टी में जाना होता था। परन्तु मैंने फिर भी समय निकालकर मॉस फिल्म्स स्टूडियोज के साथ भारत-रूस सह-निर्माण के सम्बन्ध में बात चलाई। हमने मध्यप्रदेश में विशालकाय भिलाई परियोजना के इर्द-गिर्द घूमती कहानी पर एक फिल्म बनाने की योजना पर विचार-विमर्श भी किया। अगर यह योजना क्रियान्वित होती है, तो फिल्म की शूटिंग भिलाई परियोजना की भूमि पर ही होगी। कुछ दृश्य मास्को में मॉस फिल्म्स स्टूडियोज में भी फिल्माये जायेंगे। दोनों देशों के कलाकार और तकनीशियन मिल-जुलकर इस फिल्म में काम करेंगे।

समारोह के तत्काल बाद हम मास्को से रवाना हो गये। लंदन के रास्ते में हमने पश्चिमी बर्लिन में कुछ दिन बिताये जिसमें हमने सैर-सपाटा किया।

लंदन में, मैं पुराने मित्रों से मिलकर और नये मित्र बनाकर बड़ा खुश हुआ। फिल्म स्टूडियोज में घूमते रहने की वजह से मुझे टेक्नीरेमा और टेक्नीकलर विधाओं के बारे में जानने का मौका मिला। मुझे कुछ दोस्तों के साथ रॉजेलिनी की फिल्म **इंडिया** के बारे में बातचीत करने का अवसर भी मिला। **इंडिया** को इतालवी फिल्म के रूप में समारोह शुरू होने के दो दिन पहले ही प्रवेश दिया गया था। फिल्म भारत की विकृत और पूर्वग्रह से ग्रस्त छवि प्रस्तुत करती है। एक दृश्य में दुर्घटना के शिकार एक मृत व्यक्ति के शरीर को गिद्धों द्वारा नोंच खाने के लिए छोड़ दिया जाता है। फिल्म का एक बड़ा हिस्सा भारत को सँपेरों, साधुओं और भिखारियों के आदिकालीन देश के रूप में दर्शाता है।

स्पष्टत: फिल्म का उद्देश्य भारत की खिल्ली उड़ना था। फिल्म किस तरह देश से बाहर निकलकर समारोह में शरीक हुई, यह एक रहस्य है समारोह में आधिकारिक प्रतिनिधि श्री रामध्यानी को फिल्म प्रदर्शन पर भारत सरकार की ओर से अप्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए थी क्योंकि यह फिल्म भारत के प्रति पूर्वग्रह से ग्रस्त थी। कैरो में, मैं मिस माग्दा से मिला, जो मिस्र की ग्लैमर-क्वीन हैं। वे न सिर्फ एक प्रतिभाशाली अभिनेत्री हैं, बल्कि उनमें कड़ी मेहनत करने का माद्दा भी है। स्टूडियो में पूरे दिन काम करने के बाद वे अपने ऑफिस में पहुँचती हैं जहाँ वे अपनी माग्दा फिल्मस् के निर्माण और वितरण की गतिविधियाँ देखती हैं। मुझे खुशी है कि मिस माग्दा ने मेरे समक्ष एक साझा फिल्म बनाने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा कि भारत-मिस्र की साझा फिल्म के लिए 'क्लियोपेट्रा

की जीवनी' क उपयुक्त विषय होगा और यह कि मिस्र की रानी की भूमिका वे निभाएँगी। उन्होंने मिस्र में मेरी फिल्म **सुजाता** के वितरण अधिकार लिए हैं।

मैं अब भिलाई परियोजना पर फिल्म बनाने के लिए रूसी टीम का और क्लियोपेट्रा के जीवन पर फिल्म बनाने के लिए मान्दा का इंतजार कर रहा हूँ।

चूँकि अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह दुकान की खिड़कियों की तरह होते हैं और फिल्म निर्माता देशों के फिल्म-निर्माण के बाजार का विस्तार करते हैं, इसलिए मैं इन समारोहों में भारत की हिस्सेदारी के बारे में कुछ कहना चाहूँगा।

फिल्म समारोहों में भारत का अपर्याप्त प्रतिनिधित्व होता है। समारोहों में हमारे सितारों और फिल्म-निर्माताओं का अभाव फिल्म-उद्योग द्वारा निर्यात बढ़ाने के सारे प्रयासों पर पानी फेर देता है। जबकि दूसरे देशों के सितारे और फिल्म-निर्माता बड़ी-बड़ी पार्टी देते हैं और प्रतिनिधिमंडल व मेजबानों की मान-खातिर करते हैं, तब भारतीय फिल्मी सितारे और फिल्म-निर्माता अनुपस्थित हुआ करतेहैं।

कारण? भारत सरकार यात्रा के लिए हमारे कलाकारों और फिल्म निर्माताओं को आवश्यक विदेशी मुद्रा प्रदान नहीं करती। सरकारी अफसर, जो न फिल्म-निर्माताओं और न ही फिल्म-संसार का प्रतिनिधित्व करते हैं, प्रतिनिधिमंडल में भेजे जाते हैं। परिणामस्वरूप भारत, जो इतने सारे अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार जीत चुका है और संसार में तीसरा सबसे ज्यादा फिल्म बनाने वाला राष्ट्र है, हर अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में पीछे रह जाता है। मुझे आशा है कि सरकार इन समारोहों में प्रतिनिधित्व के पहलू का परीक्षण करेगी और प्रयत्न करेगी कि हमारे सितारों और फिल्म-सितारों का इनमें भाग लेना संभव हो सके।

बिमल रॉय

बिमल रॉय

जन्म जुलाई १९०९ ढाका से ६०-७० किलोमीटर दूरस्थ सुआपुर कस्बे में छह भाई और तीन बहनों में बड़े परिवार के छोटे पुत्र। वे सभी केवल एक भाई और एक बहन को छोड़कर जीवित रहे। उनके पिता श्री हेमचंद्र रॉय सुआपुर के जमींदार थे। यह रियासत बिमल रॉय के पिता और उनके इकलौते चाचाश्री जोगेश चंद्र रॉय की थी। शताब्दी के मोड़ के जमाने में यह परिवार एक विशाल संयुक्त परिवार के रूप में रह रहा था। बिमल रॉय की अनेक भतीजियों में से एक उनकी दूसरी बहन बिभा सेन रॉय की पुत्री अपने पैतृक घर के बारे में कहती हैं, "ठीक है आप इसे जमींदारी कह सकते हैं, लेकिन वहाँ जब तीस के जमाने में कुछ एक बार हम वहाँ गये थे तो कोई खास ठाठ-बाट नहीं थे।"

बिमल रॉय के बचपन के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती, लेकिन यह बात निःसंदेह सच है कि वे शर्मीले और संवेदनशील बच्चे । उनकी बहन बिभा के संग्रह में बिमल रॉय का चार-पाँच वर्ष की उम्र का

फ़ोटो है। यह उड़े हुए रंग का फोटो किसी गैर अकल्पनाशील छायाकार द्वारा खींचा गया फोटोग्राफ है, जिसमें वे सीधे बैठे हैं, गंभीर दिखते हुए, विक्टोरियन अंदाज में जाकिट, पेन्ट और लंबे मौजे पहने। मुद्रा बनाने में मदद करता हुआ एक ऊँचा स्टूल, एक ओर मृण-पात्र में रखे हुए पौधे तथा अपने हाथों में बिमल रॉय ने हार्लिक्स की एक बॉटल थाम रखी थी। यह मुद्रा उनकी वैचारिक वेशभूषा दौर तेवर उनके बचपन के एक विशेष पक्ष को उजागर करते हैं। उनकी शिक्षा एक स्थानीय ब्रिटिश स्कूल में हुई। स्कूल में उनके साथ हितेन चौधरी और उनके बड़े भाई देवनारॉयण चौधरी, रॉय के जीवन भर दोस्त बने रहे। वास्तव में यह हितेन चौधरी की ही कोशिश का परिणाम था कि कई वर्षों बाद बिमल रॉय बंबई आए। हितेन चौधरी अपने स्कूल के दिनों को याद करते हुए कहते हैं कि 'एक दिन अत्यंत गुस्सैल मिजाज के ब्रिटिश शिक्षक द्वारा बिमल को घसीटते हुए देखा। उन दिनों बेंत से पिटाई सामान्य बात थी। बिमल को बेंत से निर्ममता से पीटा जाना देखकर हम लोग अचंभित थे —उसका चेहरा गहरा लाल हो गया था, उसने अपने हाथ मजबूती के साथ सजा के लिए आगे कर रखा था। किसी के लिए भी इस तरह का व्यवहार कभी न भुलाने वाला और अपमानजनक होताबिमल बाद के काफी दिनों तक इससे बहुत व्यथित रहे।

रॉय और उनके भाई को शिक्षक घर पढ़ाने आते थे। शिक्षक उनकी बुआ के पति ही थे। घरेलू शिक्षक भी सही व्यवहार के लिए उसी तरह का आग्रह दिखाते थे और अक्सर बेंत का इस्तेमाल करते थे। स्कूल की घटना ने रॉय को हक्का-बक्का कर दिया था। बिना किसी कारण के गाली खाने और अनेक बार सजा पाने के कारण उनके मन को चोट पहुँची थी तो भी अपमान मौन और गरिमा के साथ आया। पूरे जीवन भर रॉय ने अपमान और प्रताड़ना के विरुद्ध दृढ़ता के साथ सामना किया, जिस तरह कि उन्होंने बचपन में किया था। फिल्मकार बिमल रॉय पर ब्रिटेन के चैनल-४ द्वारा निर्मित डाक्यूमेंट्री के लिए शीर्षक **साइलेंट थंडर** ठीक ही दिया गया है। यह परिवार के लिए कोई गोपनीय बात नहीं थी कि बिमल रॉय को उनके चाचा और चाची श्री जोगेशचंद्र रॉय और किरणमयी देवी द्वारा गोद लिया जाना लगभग निश्चित सा था। सबको याद है कि कानूनी दस्तावेज तैयार कर लिए गए थे और गोद लिए जाने की कार्रवाई काफी कुछ हो चुकी थी, लेकिन अंतिम क्षणों में शायद रॉय की माँ ने या खुद उन्होंने ही गोद लिए जाने की रस्म का विरोध किया।

इस धक्के के बावजूद उनके चाचा और खासकर उनकी चाची

किरणमयी देवी रॉय को विशेष रूप से चाहती रहीं। थोड़े ही समय बाद जमींदारी खत्म हो गई और उनकी विधवा चाची किरणमयी बनारस में रहने के लिए चली गई। रॉय हर महीने अपनी चाची की सहायता के लिए मनीऑर्डर भेजा करते थे।

वहाँ कई और भी थे जो रॉय के स्थापित हो जाने के बाद उनकी ओर से मौन मदद पाते रहे। वे इस तरह की मदद में भरोसा करते थे और जब वे और उनका परिवार अपने पुरखों के घर से अलग कलकत्ता रहने के लिए आया तब कोई भी उनकी मदद के लिए नहीं था। प्रसिद्ध लेखक स्व . प्रेमेंद्र मित्र के अनुसार सुआपुर के पुराने और सम्मानित वैद्या समुदाय के रॉय के संघर्ष को उन्होंने देखा है और जरूरत के वक्त भाई की तरह भी रहे हैं। आकार में छोटी होने के बावजूद रियासत उनके तात्कालिक परिवार के लिहाज से ठीक-ठाक थी। १९३० तक उनके सुआपुर वाले घर में सभी कुछ व्यवस्थित रहा। उन दिनों रॉय ढाका के प्रसिद्ध जगन्नाथ महाविद्यालय में इंटरमीडिएट के अंतिम वर्ष में थे उनके बड़े भाई सुधीरचंद्र रॉय कलकत्ता से एम .ए . कर रहे थे और मँझले भाई अनिलचंद्र रॉय इंग्लैंड चले गए। दूसरे भाई, रॉय से ठीक बड़े प्रतापचंद्र रॉय कोई छोटा-मोटा काम कलकत्ता में कर रहे थे और सुआपुर वाले घर में रॉय के साथ उनकी भतीजी जो अपनी माँ के साथ अक्सर आती थी रॉय की बहन बिभारानी सेन रॉय याद करती हैं कि कैसे एक दिन रॉय घर देर से आने के कारण पिताजी द्वारा घसीटते हुए लाए गए थे। रॉय गोपनीय ढंग से दुर्गा पूजा के अवसर पर अपने दोस्तों के साथ रिहर्सल कर रहे थे , इसी कारण वे देर से आते थे , लेकिन बड़ों ने इस बात की छूट नहीं दी और रॉय को चुपचाप खड़े रहना पड़ा था।

रॉय के व्यक्तिगत जीवन के बारे में, उनके बचपन के बारे में या आरंभिक दिनों के बारे में जो प्राय: उनके परिवार के सदस्यों को मालूम था और उनमें से अधिकांश अब जीवित नहीं हैं। अपने छात्र जीवन के जमाने में रॉय ने रंगकर्म में काफी दिलचस्पी ली। देवनारॉयण चौधरी के साथ प्रमुख नारी पात्रों की भूमिकाएँ निभाई। दोनों ने एक सुदर्शन टीम की रचना की। दोनों ने साथ में कई नाटक किए और अनेक अत्यंत सफल रहे। जैसे ऐतिहासिक नाटक **निसार कुमारी।** उसको बाद रॉय ने **यहूदी की लड़की** के नाम से सफल कृति के रूप में मंचित किया। वे एक विषय के रूप में इस कास्टयूम ड्रामा से चमत्कृत थे। उन्होंने एक साधारण से विषय को सामाजिक प्रासंगिकता से सम्पृक्त भी किया। सच यह था कि रॉय

यहूदी की लड़की के निर्माता सेवक वाच्छा का दिल दुखाना नहीं चाहते थे। निर्माता सेवक वाच्छा मल्टी स्टार कास्ट वाले अपने इस प्रोजेक्ट के जरिए फिल्म उद्योग में पाँव जमाने का आखिरी प्रयत्न कर रहे थे।

अधिकांशत: ये शौकिया नाटक दुर्गा पूजा उत्सव के दरम्यान ग्राम्यांचलों में मंचित होते थे। रॉय परिवार अपने विशाल घर की चहारदीवारी में दुर्गा पूजा का आयोजन करता था और सारा परिवार इकट्ठा होकर इसमें सम्मिलित होता था। उनकी बहन बिभा के अनुसार जो कि रॉयको बहुत चाहती भी थी नारी पात्र की भूमिका में वे अत्यत सुंदर लग रहे थे, खासकर निसार कुमारी में।

जब में रंगाभ्यास में या पढ़ाई में व्यस्त नहीं होते थे तो अपने घर के कोने में या तो लाल रंग के मैरे बना रहे होते थे या पेंसिल से रेखांकन कर रहे होते या वायलिन का अभयास कर रहे होते थे। यह सब आत्म प्रशिक्षण की तरह था। उनके बड़े भाई सुधीर रॉय ने एक छोटा कैमेरा उन्हें भेंट किया, जिससे रॉय ने अपने आसपास की हर एक चीज के चित्र लेना शुरू कर दिया। बाद में पेटिंग और संगीत छूट गए, पर उन्होंने स्टिल फोटोग्राफी के बाबत उत्साह कभी नहीं छोड़ा था। वास्तव में रॉय ने पोर्ट्रेट फोटोग्राफर के रूप में काम करने का निश्चय कर लिया था। फिल्म निर्माण के आरंभिक दौर में प्रचारात्मक चायांकन करने की कोई परंपरा नहीं थी। बिमल रॉय के बारे में एक बार बोलते हुए न्यू थिएटर की महान अभिनेत्री कानन देवी ने श्रद्धा-स्वरूप टिप्पणी करते हुए कहा कि हमारे समय की तमाम अभिनेत्रियाँ बिमल बाबू से फोटो खिचवाना चाहती थीं। कई बार दिन भर की शूटिंग के बाद हममें से अनेक उनसे फोटो खिचवाए जाने के लिए भीड़ लगाए रहती थीं। उनके स्पर्श में जादू था। कोई भी बिमल बाबू की तरह स्त्री को इतना सुंदर नहीं बना सकता था। न केवल उनके स्टिल पोर्ट्रेट्स, बल्कि उनके कैमेरा वर्क भी अद्भुत था। मैं कभी भी इतनी सुंदर नहीं दिखी, जितनी मुक्ति में, जिसे बिमल बाबू ने छायांकित किया था।

१९३० के जमाने में जब ढाका सांप्रदायिक दंगों की गवाही दे रहा था, बिमल रॉय के पिता हेमचंद्र रॉय मिलफोर्ड अस्पताल में दिवंगत हुए।

एक रात में ही पूरे परिवार का बोझ स्व. पिता से बिमल रॉय पर आ पड़ा। उस वक्त वे बीस-एक साल से ज्यादा के नहीं थे और छात्र ही थे। उस वक्त वे किसी खास तरह का काम नहीं कर रहे थे, कभी कभार रंगमंच, चित्रांकन या छायाँकन को छोड़कर के। ऐसे में यह जिम्मेदारी

अत्यंत विचलित कर देने वाली थी, तो भी रॉय ने बिना किसी प्रतिरोध के अपनी जिम्मेदारी संभाली। उनकी विधवा माँ गहरी पीड़ा से गुजर रही थीं। दो छोटे भाई बिनय और परिमल की भी देखरेख की जानी थी। रॉय के सभी बड़े भाई घर से बाहर थे। रियासत के मैनेजर के चतुराई भरे कारनामों से निस्सहाय जूझने में ही उनकी माँ की लगभग सारी उम्र बीती। जमींदार हेमचंद्र रॉय के १९३० में हुए निधन को अधिक वक्त नहीं गुजरा था कि रियासत, घर, जमीन, खेत, मछली तालाब आदि सभी कुछ मैनेजर द्वारा हड़प लिए गए। उसने बिमल रॉय से कहा कि हम पर हजारों रुपए का कर्ज है, उसे उतारने के लिए सब कुछ देना पड़ेगा।

अपने खुद के एस्टेट मैनेजर की धूर्तता के शिकार बिमल रॉय ने बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिया। उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया। पुरखों का सुआपुर स्थित अपना प्यारा घर, जमीन और सारी संपत्ति। और माँ को लेकर कलकत्ता चले गए। ढाका से कलकत्ता की दूरी उन दिनों चार-पाँच दिन में पूरी होती थी, दुर्गम नदियों और इलाकों को पार कर। इस साहसी परिवार के लिए कानूनी अधिकार छोड़ने के सिवा कोई दूसरा चारा भी नहीं था। बिमल रॉय को अपनी पढ़ाई-लिखाई भी छोड़नी पड़ी, घर की इस त्रासदी के कारण। कलकत्ता में बिमल रॉय ने दक्षिणी इलाके में एक फ्लैट किराए पर लिया, झीलों के किनारे और टॉलीगंज से अधिक दूर नहीं, जहाँ सर्वाधिक प्रसिद्ध सिनेमा स्टूडियो न्यू थिएटर्स भी था। अनेक महीने रॉय बिना काम के रहे। न्यू थिएटर्स के अनेक चक्कर लगाए और दूसरे स्टूडियो के भी, जो दूर दमदम में स्थित थे। न्यू थिएटर्स में उस समय अत्यंत प्रसिद्ध फिल्मकार नितिन बोस, अमर मलिक, प्रमथेश बरुआ और अन्य दूसरे कर रहे थे। उस समय सिनेमा उद्योग में केवल बंगाली फिल्म्स ही नहीं बन रही थीं, बल्कि तमिल, उर्दू, हिंदी आदि दूसरी भाषाओं की फिल्में भी बनती थीं। न्यू थिएटर्स के चक्कर लगाने के दौरान ही बिमल रॉय ने नितिन बोस का ध्यान आकर्षित किया, जो बाद में याद करते हुए कहते हैं—"बिमल में कुछ था, गरिमापूर्ण व्यवहार, सीधा तरीका और आत्मविश्वास। जब न्यू थिएटर्स में बतौर मेरे कैमरा सहायक वे ले लिए गए तो काम के प्रति उनके जुड़ाव को देखकर मैं भी प्रभावित था। वे चुपचाप कैमरे के पास खड़े रहते। जब तक कैमरा चमचमाने न लगे, तब तक उसे पोंछते और पॉलिश करते रहते। काम के प्रति उनका समर्पण एक महान् धरोहर था।"

कैमरामैन/निर्देशक नितिन बोस से जो कि खुद भी माध्यम से अत्यंत

गहराई के साथ जुड़े थे , ने एक बार कहा कि अपने पहले सिने कैमेरे को अपने साथ रखकर सोये। युवा बिमल रॉय का यह अत्यंत उच्च समर्पण था। नितिन बोस की तरह, जो कि उनके गुरु भी थे, रॉय भी अपने माध्यम से अत्यंत जुड़े हुए थे और दोनों ने ही अपने कैरियर की शुरूआत २४-२५ वर्ष की उम्र से ही की थी।

कलकत्ता में अपने विस्थापन के ४-५ वर्षों के दौरान ही बिमल रॉय ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। उनका कैरियर दो सर्वथा अलग रूप में विकसित हुआ। एक बतौर सिनेमेटोग्राफर के और दूसरे निर्देशक के रूप में। १९४४ के **उदयेर पाथे** में निर्देशक के रूप में मौका मिलने तक रॉय एक बड़े सिनेमेटोग्रापर के रूप में स्थापित हो चुके थे। डाक्यूमेंट्री निर्माण के रूप में उन्हें पहला काम **बर्माशेल** के रूप में मिला। रॉय की दो आरंभिक डाक्यूमेंट्री **हाउ केरोसिन टिन्स आर मेड, ग्रांड ट्रंक रोड** की दोनों ही आधे घंटे की फिल्में थीं। अरबिंद सेन कहते हैं, "मुगल बादशाहों द्वारा बनवाई गई कलकत्ता से पेशावर तक की पुरानी 'ग्रांड ट्रंक रोड' पर केंद्रित यह डाक्यूमेंट्री बहुत ही सुंदर बनी है। प्रामाणिकता के अहसास के सथ यह सड़क को दर्ज करती है। वास्तव में लोगों को पहली बार पता चला कि इस तरह की कोई सड़क अस्तित्व में है।" अरबिंद सेन ने, जो बिमल रॉय के सहायक के रूप में जुड़े रहे, रॉय की बहुचर्चित पोर्ट्रेट फोटोग्राफी की पुष्टि की। केवल लोकप्रिय नायिकाएँ ही नहीं थीं जो बिमल रॉय से फोटो खिंचवाना चाहती थीं। बिमल रॉय के पोर्ट्रेट संग्रह में सभी प्रसिद्ध सितारों कानन देवी, चंद्रावती, कमलेश कुमारी, जमुना, बरुआ से लेकर पहाड़ी सान्याल, देबी चटर्जी, सहगल और तमाम महत्वपूर्ण अभिनेता-अभिनेत्री सभी कोई हैं।

बिमल रॉय और उनके मित्र अजीत सेन ने **लूसी स्टूडियो** खोला, कलकत्ता के व्यस्त इलाके रासबिहारी एवेन्यू में। चौथे दशक के मध्यकाल में यह कलकत्ता के सबसे बेहतरीन फोटोग्राफिक स्टूडियो में गिना जाता रहा, जब तक कि पाँचवें दशक के उत्तरार्द्ध में यह बंद हो गया।

इसी दौरान नितिन बोस ने बिमल रॉय को **देवदास** के बंगाली संस्करण के लिए कैमेरा सहायक के रूप में लिया। इस फिल्म में प्रमथेशचंद्र बरुआ, जो कि 'प्रिंस बरुआ' के नाम से अधिक चर्चित थे, इसमें मुख्य भूमिका निभा रहे थे। बिमल रॉय ने १९३३-३४ में एक तमिल फ़िल्म **नाला थंगल** भी छायांकित की। इस फिल्म के कैमेरा वर्क से उन्हें पहली बार पहचान मिली और रजत पदक का सम्मान भी मिला। दूसरे दो वर्षों में १९३६/३७ में बिमल रॉय का सुघड़ और कल्पनाशील

कैमेरा वर्क शीर्ष आलोचकों द्वारा सराहा गया। बरुआ की फिल्म **मुक्ति** की सिनेमेटोग्राफी के लिए उन्हें **द बंगाल जर्नलिस्ट अवार्ड** से सम्मानित भी किया गया।

दूसरे दशक की भूली-बिसरी तमिल फिल्म **नालाथंगल** से बिमल रॉय को भारत के सितारा कैमेरामैन के रूप में प्रतिष्ठा मिली। उस वक्त वे पी . सी . बरुआ की **देवदास** के हिंदी संस्करण के लिए स्वतंत्र सिनेमेटोग्राफर थे। उस वक्त बिमल रॉय को ४०० रुपए महावार पारिश्रमिक मिलता था। मुझे याद है कि मेरी अपनी तनख्वाह उस जमाने में न्यू थिएटर्स में कैमेरा सहायक के रूप में ३० रुपए माहवार थी, लेकिन बिमल दा की प्रतिष्ठा और योग्यता से उन्हें इतनी बड़ी राशि मिली। और तो और न्यू थिएटर्स के वरिष्ठ पटकथा लेखक बिनॉय चटर्जी को भी केवल १२५ रुपए माहवार ही, जिसमें रेवेन्यू स्टॉम्प के पैसे काट लिए जाते थे, मिलते थे, जबकि उन्होंने कई सफल फिल्में लिखी थीं। बिमल दा को सर्वाधिक पारिश्रमिक मिलता था और क्यों नहीं मिलता? अरबिंद सेन याद कर कहते हैं।

देवदास और मुक्ति के साथ ही दूसरी फिल्मों **माया, बड़ी दीदी, हारजीत** ने बिमल दा को उस जमाने के सबसे बड़े सिनेमेटोग्राफर के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका नाम बड़े अक्षरों में सिनेमा बोर्डों पर लिखा जाने लगा था। वे एक सितारा कैमेरामैन थे , जिन्होंने तकनीक में अनेक नए आॅविष्कार किए थे। मुक्ति की आऊटडोर शूटिंग आसाम के जंगलों और सुंदर पहाड़ियों पर हुई, जिसमें बिमल रॉय के बतौर सिनेमाटोग्राफर के कैरियर को और अधिक चमक प्रदान की।

१९४३ भयावह अकाल का वर्ष था, जो कि बंगाली अकाल के रूप में अधिक कुख्यात है। ब्रिटिश सरकार ने बी . एन . सरकार से तकनीकी दल के लिए आग्रह किया ताकि अकाल का वास्तविक फिल्मांकन हो सके। उसलके पीछे विचार यह था कि भारत से बाहर इस फिल्म के जरिए अकाल राहत कोष एकत्र किया जा सके।

"हमें यह डाक्यूमेंट्री बनाने के लिए कहा गया था। कोई १५ दिन या इसी के आसपास बिमल दा, और एक अन्य कैमेरा सहायक शहर की सड़कों पर फिल्मांकन के कलिए गए। हम टॉलीगंज से श्याम बाजार गए। परिस्थिति का दुष्प्रभाव बहुत व्यापक था। लोग चावल के दाने के लिए रो रहे थे । यदि किसी के पास रोटी का टुकड़ा भी होता तो प्रतिक्रिया हिंसात्मक ही होती थी। जो कुछ हमने फिल्मांकित किया वह वीभत्स ही था। उसे देखना अत्यंत पीड़ादायक था। काम पूरा होने पर ब्रिटिश

सरकार ने समूचे निगेटिव जब्त कर लिए। कोई नहीं जानता उस फिल
का क्या हुआ? जो कि आज अत्यंत मूल्यवान दस्तावेज साबित हो सकत
था।" कमलेश बोस का कहना था।

उनके निजी जीवन में अनेक परिवर्तन आ रहे थे। बिमल रॉय
परिवार में अब पत्नी मोनोबिना भी शामिल हो गई थी। मोनोबिना क
चचेरी बहन इंदिरा बिमल रॉय के दूसरे भाई अनिलचंद्र की पत्नी थीं, ज
इंग्लैंड इलेक्ट्रिकल इंजीनियर के रूप में दीक्षित होने गए थे।

मोनोबिना अति सुसंस्कृत बंगाली परिवार से आई थीं। जो बनारस
में स्थापित हो गया था। उनके सबसे छोटे चाचा डॉ. काननसेन रॉय
सुआपुर जमींदार के दामाद थे। विमल रॉय जब भी अपनी बहिन विभ
(डॉ .सेन रॉय की पत्नी से) मुलाकात के लिए जाते तो मोनोबिना औ
देबबिना भी अक्सर दिखाई पड़ती थीं। बिमल रॉय और मोनोबिना क
विवाह श्री ललित सेन रॉय के घर में शानदार तरीके से हुआ। ललित
बिहारी सेन रॉय दुल्हन के पिता विनोद बिहारी के बड़े भाई थे औ
बनारस में रहते थे। इस विवाह के अवसर पर कलकत्ता के अनेक
महत्वपूर्ण नागरिक और फिल्म आलोचक निर्मल कुमार घोष आदि
सम्मिलित हुए। बिमल रॉय के कलकत्ता स्थित किराए के आवास मे
नवदंपत्ति के लिए एक बड़ा शानदार स्वागत समारोह हुआ। इस स्वागत
समारोह में सिनेमा उद्योग के सभी बहुचर्चित और प्रतिष्ठित लोग
बी .एन . सरकार, प्रमथेश चंद्र बरुआ, कुन्दनलाल सहगल, पंकज
मल्लिक, पी .एन .रॉय आदि भी सम्मिलित हुए। तब भी किसी अभिनेत्री
को इस समारोह में नहीं बुलाया गया था लेकिन चंद्राबतीश देवी जरूर
इसमें शामिल हुईं ताकि वह यह देख सकें कि बिमल बाबू की पत्नी कैसी
है।

शादी के बाद बिमल रॉय अपनी पत्नी मोनोबिना के साथ पुरी गए
जहाँ नव–दंपत्ति की मुलाकात कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर से हुई। पुरी में
कविवर को जगन्नाथ पगड़ी से अलंकृत किया जा रहा था। बिमल रॉय ने
उस अवसर पर कविवर का फोटोग्राफ लिया। यह पोट्रेट कविवर के संग्रह
के श्रेष्ठतम पोर्ट्रेट्स में से एक है।

इसी समय के आसपास १९३७ में न्यू थियेटर के साथ
सिनेमेटोग्राफर के रूप में उनका कैरियर सुप्रतिष्ठित हो चुका था। वे न्यू
थियेटर्स के साथ विशेष रूप से अनुबंधित थे।

१९४३ से जब बिमल रॉय को सिनेमेटोग्राफर के रूप में कोई एक
दशक हो गया था वे निर्देशन के लिए बैचेन रहने लगे लेकिन उनके

संकोची स्वभाव के कारण बी .एन . सरकार से कोई सीधा संपर्क नही कर सके। बी .एन .सरकार से अनुमोदन के लिए रॉय एक उपयुक्त कहानी की खोज में थे। उन दिनों न्यू थियेटर्स में प्रेमेन्द्र मित्र जो बिमल रॉय से थोड़े वरिष्ठ थे और उनके बड़े भाई प्रतापरॉय के मित्र थे। अपने उपन्यास पर फिल्म लिखने की तैयारी कर रहे थे।

साहित्य की दुनिया के आदमी जानकर रॉय ने प्रेमेन्द्र मित्र से सलाह के लिए संपर्क किया। न्यू थियेटर्स के पास एक बहुत बढ़िया कहानी विभाग था। प्रेमेन्द्र मित्र के साथ न्यू थियेटर्स के कहानी विभाग में बंगाली साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण रचनाकार शामिल थे। इसी विभाग से नए थियेटर्स के लिए कहानी के विचार उभर कर आते थे। प्रेमेन्द्र खुद भी निर्देशन के लिए प्रयत्नशील थे। प्रेमेन्द्र मित्र की रचना पर आधारित बंगाली फिल्म **समाधान** की कहानी बिमल रॉय को पसंद थी और वे चाहते थे कि हिन्दी में इसे फिर से बनाया जाए।

"लेकिन मैं जानता था कि न्यू थियेटर्स जिसे मौलिक फिल्में बनाने का गर्व था वह किसी बनी–बनाई फिल्म को फिर से नहीं बनाना चाहेगा तो यह विचार एक कोने में फेंक दिया गया। इस दरम्यान बिमल ने एक फिल्म देखी जिसकी कहानी एक छोटी लड़की के आसपास घूमती है-"शायद यह कोई अँग्रेजी फिल्म थी"। बिमल रॉय इसे बनाना चाहते थे और इस विचार पर मुझे फिल्म बनाने के लिए उन्होंने कहा। मैंने हाँ कर दी थी। उसके बाद पुरी में छुट्टियाँ मनाने के लिए गया। बिमल से मुलाकात हुई लेकिन उनका कहना था कि उन्होंने एक नए लेखक की खोज कर ली है, ज्योतिर्मय रॉय नाम के लेखक की। मुझे उसका नाम याद आया और जब मैं शौकिया रंगकर्म में संलग्न था तब नारी भूमिकाओं के लिए उसकी बहन को भी लिया था। बिमल रॉय ने जब मुझे कहा तब तक **उदयेर पाथे** की कहानी पूरी हो चुकी थी, प्रेमेन्द्र मित्र ने याद करते हुए कहा। निर्देशक कहानी लेखक की तरह **उदयेर पाथे** में तमाम नये लोग काम कर रहे थे, लगभग पहली बार। उन लोगों में संभवत: बुजुर्ग संगीत रचनाकार रॉयचंद्र बोराल ही थे और विश्वनाथ भादुड़ी भी जो नायिका के पिता की भूमिका निभा रहे थे।

उदयेर पाथे एक कटपीस फिल्म जैसी थी जिसका रॉ–स्टॉक वास्तव में न्यू थियेटर्स प्रोडक्शन की अन्य महत्वपूर्ण फिल्मों के फिल्मांकन से बचा–खुचा माल ही था। यह बनी तो एक प्रयोगात्मक फिल्म के रूप में थी लेकिन बाद के दिनों में न्यू थियेटर्स की महत्वपूर्ण फिल्म के रूप में साबित हुई। कईयों की इसके बारे में तीखी प्रतिक्रिया भी थी। बहुत से मानते थे कि यह बॉक्स ऑफिस पर असफल फिल्म है। न्यू थियेटर्स के संपादक और

सरकार के अत्यंत भरोसेमंद कोची मित्र एक शब्द में अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं, "रीसूट"। और दूसरी तरफ दूसरे बुजुर्ग प्रतिष्ठित फिल्म आलोचक मनू जैनेंद्र भंज की प्रतिक्रिया थी कि कोई फ्रेम न बदले।

सिनेमा पंडितों की तीखी टिप्पणियों के बाद न्यू थियेटर्स ने तय किया कि पूजा के दिनों में चित्रा सिनेमा में **उदयेर पाथे** को दिखाना चाहिए। वास्तव में यह भी एक प्रयोग था और न्यू थियेटर्स प्रोडक्शन की बड़ी फिल्म **द्विपुरूष** के पहले बतौर भर्ती की फिल्म के रूप में इसे दिखाने का सोचा गया।

उदयेर पाथे सितंबर १, १९४० को चित्रा सिनेमा में लगी। इस फिल्म ने लगभग एक साल से भी ज्यादा सफलतापूर्वक चलकर न्यू थियेटर्स के पिछले सभी बॉक्स ऑफिस रिकॉर्ड को तोड़ दिया और आज भी यह न्यू थियेटर्स कंपनी की सबसे सफल फिल्मों में मानी जाती है।

उदयेर पाथे की सफलता घरेलू नारों में बदल गई थी और जो छात्रों, लेखकों और दूसरे तमाम लोगों द्वारे अनेक जगह दोहराए भी जाते थे । फिल्म का नायक अनूप के हर संवाद के बाद तालियों की गड़गड़ाहट से चित्रा सिनेमा गूँज उठता था। इस अभूतपूर्व सफलता के बाद न्यू थियेटर्स ने **उदयेर पाथे** के हिन्दी संस्करण **हमराही** बनने की स्वीकृति दी। छोटे–मोटे सभी परिवर्तनों के साथ सभी पात्रों को फिर से लिया गया। इस फिल्म से कैमरामैन कमल बोस और कला निर्देशक सुधेन्दु रॉय बिमल रॉय की स्थायी यूनिट में शामिल हुए। कहना न होगा कि **उदयेर पाथे** ने इस वर्ष द बंगाल फिल्म जर्नलिस्ट एवार्ड के सारे पुरस्कार झटक लिए। उस जमाने में कोई दूसरा प्रतिष्ठित एवार्ड नहीं था और द बंगाल फिल्म जर्नलिस्ट एवार्ड तब प्रतिष्ठित सम्मान था और लगभग १९७० तक इस सम्मान की प्रतिष्ठा बनी रही।

उदयेर पाथे के दो संस्करणों के बाद सुबोध घोष की जरा जटिल लेकिन श्रेष्ठ कहानी **फांसिल** के रूपांतरण का सिलसिला शुरू हुआ। **अजानगढ़** के नाम से बनी यह फिल्म अपने समय की अत्यंत क्रांतिकारी फिल्म थी और इसीलिए बॉक्स ऑफिस पर असफल भी। उसके बाद हल्के–फुल्के विषय पर बनफूल की रचना पर आधारित फिल्म बनी। **मंत्रमुग्ध** नाम की यह फिल्म हिन्दू रूढ़िवादिता पर तीखा व्यंग्य थी लेकिन न तो **मंत्रमुग्ध** और न ही उसके तुरंत बाद बनी हिन्दी फिल्म **पहला आदमी** विमल रॉय की ख्याति के अनुरूप सफल फिल्म नहीं थी

और उसी जमाने में १९४७ के विभाजन के संकट के वक्त न्यू थियेटर्स भी आर्थिक संकटों से घिर गया और इसका भी बंगाली सिनेमा के बाजार पर गहरा प्रभाव पड़ा। जब बिमल रॉय **पहला आदमी** के बंबई में प्रदर्शन के लिए व्यक्तिगत रूप से आए तो उनकी मुलाकात अपने बचपन के मित्र हितेन्द्र चौधरी से हुई। उस वक्त बिमल रॉय न्यू थियेटर्स के साथ अपने नए काम के बारे में निश्चिन्त नहीं थे। श्री सरकार ने भी इसी तरह कोई वादा नहीं किया था। बिमल रॉय कलकत्ता वापस गए। आत्मसंशय की मन:स्थिति में और शीघ्र ही उन्होंने हितेन चौधरी को बंबई में संभावनाओं की खोज के लिए लिखा।

रॉय का पत्र पाते ही, जो हितेन चौधरी के लिए स्पष्ट संकेत भी था उन्होंने सेवक वाच्छा और अशोक कुमार से चर्चा की, "१९५० में मैंने बाम्बे टॉकीज छोड़ा था। मैंने वाच्छा और अशोक कुमार से कहा कि बिमल रॉय को फिल्म बनाने के लिए बुलाना चाहिए तो उन्होंने इसे गंभीरतापूर्वक लिया। बिमल को **माँ** के लिए निमंत्रित किया गया जो पश्चिम में बनी लोकप्रिय तत्वों पर आधारित पारिवारिक कहानी पर केंद्रित थी। उन्होंने **ओवर द हिल्स** भारतीय दर्शकों के लिए तैयार की। इस फिल्म की मुख्य भूमिका लीला चिटनिस ने निभाई जो बाम्बे टॉकीज की वरिष्ठ अभिनेत्रियों में से थी। मुझे याद पड़ता है कि बिमल रॉय के बेहतरीन काम के लिए उनसे २५ या ३० हजार रुपए का अनुबंध किया गया था। यह राशि उन दिनों एक फिल्म के लिए बहुत बढ़िया थी।" बॉम्बे टॉकीज ने बिमल रॉय के परिवार के ठहरने के लिए उस बंगले की व्यवस्था भी की जिसमें कभी हिमांशु रॉय और देविका रानी रहे थे।

आम और जास्मिन वृक्ष से घिरा हुआ- बगीचा तो खुद देविका रानी ने ही लगाया था- यह बंगला दादी सेठ रोड मलाड स्थित स्टूडियो से बहुत करीब था। बंबई का यह आवास कलकत्ता के तंग और भीड़-भाड वाले इलाके सरदार शंकर रोड स्थित फ्लैट से बिलकुल अलग था।

बिमल रॉय कलकत्ता से अपने साथ पॉल महेंद्र, असित सेन, ऋषिकेश मुखर्जी और अन्य तकनीशियनों को भी ले आए थे।

मैं कलकत्ता में ही रुका रहा लेकिन मेरे साथ के लोग कलकत्ता छोड़ रहे थे। युसूफ मुल्जी (जो विद्यापति के कैमरामेन) भी छोड़ गए बिमल दा भी मेरे कई सहकर्मियों के साथ अलग हो गए। इस सब के छोड़ने के लगभग दो महीने के भीतर ही मुझे भी नोटिस मिला कि न्यू थियेटर्स १९५१-५[illegible] [illegible] रहा है।' कमल बोस याद करते हुए कहते हैं।

चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में कलकत्ता में सिनेमा उद्योग बहुत गहरे संकट में फँस गया था। बंगाल विभाजन ने सब कुछ तोड़कर रख दिया था लेकिन कुछ उल्लेखनीय प्रतिभाएँ भी सामने आ रही थीं। परम्परागत रूप से कलकत्ता शहर ने व्यावसायिक होते जा रहे बंबई की तुलना में कहीं ज्यादा राजनीतिक जागृति प्रकट की।

१९३६ से ही न्यू थियेटर्स की फिल्मों ने राजनीतिक प्रतिबद्धता को प्रतिबिंबित किया- नितिन बोस की फिल्म **प्रेसिडेंट** (१९३६) में मजदूरों के प्रबंध और कंपनी के लाभ में भागीदारी के अधिकार की तरफ्दारी की। अगले साल बनी **धरतीमाता** सामूहिक खेती पर आधाति थी। इस फिल्म में इस तथ्य पर जोर दिया गया कि कृषि के मशीनीकरण के जरिए ही बंधुआ लोगों को मुक्त किया जा सकता है। न्यू थियेटर्स राजनीतिक सिनेमा की स्थापना के प्रति अग्रसर था। और इस सिलसिले में आखिरी बड़ी फिल्म और सर्वाधिक सफल फिल्म भी **उदयेर पाथे** थी जिसे बिमल रॉय ने बनाया था। यह फिल्म कलकत्ता के कामगारों और पूँजीपतियों के बीच में ध्रुवीकरण को लेकर काफी साहसिक अभियान थी।

बंबई में काम के बिल्कुल पहले अनुभव से ही बिमल रॉय ने दो उद्योगों के बदलाव को महसूस कर लिया था। अपने मालिकों के साथ वैचारिक मुद्दों पर संघर्ष विशेषकर अपने यूनिट के सदस्यों को दिए जाने वाले पारिश्रमिक का मुद्दा असहनीय था। इस सब ने उन्हें परेशान और मूड़ी बना दिया। उन्होंने महसूस किया कि जम तक वे खुद मालिक नहीं बन जाते तब तक इस उद्योग में अपना अस्तित्व बनाए रखना और प्रतिबद्ध सिनेमा बनाते रहना संभव नहीं है।

बाम्बे टॉकीज की **माँ** फिल्म पूरी करने के बाद उन्होंने लगभग अपना सामान बाँध लिया था और कलकत्ता वापसी की तैयारी भी कर ली थी लेकिन उनकी अगली फिल्म **परिणीता** की बड़ी सफलता ने सारी स्थिति को पुनः बदल दिया।**परिणीता** से अशोक कुमार एक स्वतंत्र निर्माता बने। परिणीता के निर्माण के दरम्यान (यही वर्ष अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव के आरम्भ होने का भी था) उन्होंने एक स्वतंत्र कंपनी की स्थापना की योजना बना ली थी।

बिमल दा के साथ हम कुछ एक लोग एरोज सिनेमा में कुरोसावा की **राशोमन** देकर बस में मलाड लौटाते हुए निराशा की मनः स्थिति में सभी चुप थे। फिल्म का अद्भुत प्रभाव हम सब पर पड़ा था। मैं सोच रहा था कि आखिर हम क्यों नहीं इतनी प्रभावी फिल्म बना सकते जैसी कि

अभी देखी है? मैं बिमल दा से पूछने से रोक न पाया। वे पहले कुछ देर चुप रहे बाद में उन्होंने पूछा कि कहानी कौन लिखेगा? मैंने तुरंत बिना रुके कहा कि मैं लिखूँगा। हमने तय किया कि यूनिट के सभी सदस्य इस कंपनी में पैसा लगाएँगे। इस प्रकार एक डबल डेकर बस में बिमल रॉय प्रोडक्शंस की शुरुआत हुई। 'ऋषिकेश मुखर्जी ने याद करते हुए बताया। बॉम्बे टॉकीज का जब पराभव हो रहा था लगभग उसी समय बिमल रॉय प्रोडक्शंस की स्थापना हुई। आखिर कुछ एक फिल्में **परिणीता** और ज्ञान मुखर्जी की **बड़वान** आदि का फिल्मांकन होना भर शेष था।

वह वर्ष १९५२ एक महत्वपूर्ण अवसर था जब भारत अपना पहला अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव कलकत्ता, बंबई और दिल्ली में आयोजित कर रहा था। इस समारोह मे नवयथार्थवादी इतावली फिल्मकार डिसीका और रोजेलिनी आदि की फिल्में प्रदर्शित की जा रही थी। जापानी फिल्म **यूकिवारिशु** ने भी अपने गहरे मानवीय संस्पर्श की वजह से सभी दर्शकों को आकर्षित किया। **दो बीघा जमीन** को डिसी का की यादगार फिल्म**बाइसिकल थीव्ज** से मिलती- जुलती फिल्म माना गया। आलोचकों का कहना था कि यूरोपीय आंदोलन का यह भारतीय भाग है। जब आलोचकों ने बिमल रॉय से सीधे ही यह सवाल किया कि क्या यह डिसीका की **बाइसिकल थीव्ज** से यह प्रभावित है? तो उनका जवाब था, कहानीकार से प्रभावित शायद हों लेकिन फिल्मकार से नहीं।

इस अप्रतिम फिल्म से न केवल फिल्म के निर्देशक को स्थान मिला बल्कि अंतरराष्ट्रीय दृश्य में संगीतकार सलील चौधरी से और भारतीय सिनेमा को भी जगह मिली। उन्हें रिक्शावाला कहकर पुकारा जाता था। **दो बीघा जमीन** नाम रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इसी नाम की कविता से दिया गया। फिल्म के कथानक के हिसाब से भी इससे उपयुक्त नाम दूसरा नहीं था।

बिमल रॉय ने **उदयेर पाथे** से भारतीय सिनेमा में एक बिल्कुल नई तरह की शुरुआत की। १९५२ में बंगाल के किसान और जमींदारों के षड़यंत्र में फँसकर अस्तित्व की लड़ाई हारते जाने पर आधारित **दो बीघा जमीन** फिल्म बनाई। १९५४ में इसे कॉन फिल्म महोत्सव में आलोचकीय सराहना मिली और कार्लोवीवारी में पुरस्कार भी मिला। इसके बाद रॉय द्वारा बनायी गयी दोनों फिल्में **देवदास** और **सुजाता**वास्तव में पुनर्निर्मित फिल्में थी। **दो बीघा जमीन** की कहीं से भी बराबरी नहीं कर सकीं। बिमल रॉय का बडा योगदान नृत्य और गीत की व्यापक परम्परा को लोकप्रिय करने का था।

यह सब कुछ सत्यजीत राय और उनकी श्रेष्ठ फिल्म **पथेर पांचाली** को अंतरराष्ट्रीय सिनेमा दृश्य में सराहे जाने से लगभग दो वर्ष पूर्व की बात है। **दो बीघा जमीन** ने लभगभ सभी केंद्रों-खासकर पश्चिमी यूरोप और सोवियत संघ में प्रतिबद्ध भारतीय सिनेमा के लिए दरवाजे खोल दिए। सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया और चीन के दर्शकों ने इसे खासकर पसंद किया। न केवल सिनेमा क्षेत्र के लोग बल्कि सामान्य दर्शक ने भी इस फिल्म से प्रभावित होकर गहरी आस्था का अनुभव किया। अभी पिछले पाँच वर्ष पूर्व तक दो भारतीय निर्देशक और दो भारतीय फिल्में राजकपूर की **आवारा** और बिमल रॉय की **दो बीघा जमीन** इन देशों में अत्यंत लोकप्रिय थीं। कोई सात वर्ष पहले एक छोटा सा चीनी प्रतिनिधि मंडल अपना सम्मान प्रकट करने के लिए बिमल रॉय के परिवार के पास गया था। प्रतिनिधि मंडल ने कहा कि **दो बीघा जमीन** आज भी चीन में सर्वाधिक लोकप्रिय फिल्म है और लगभग सभी सांस्कृतिक आयोजनों में उसका प्रदर्शन हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि यह चीनी फिल्मों से भी अधिक लोकप्रिय है। उन्होंने बिना किसी कठिनाई के **दो बीघा जमीन** के गाने की कुछ कड़ियाँ भी गाकर सुनाई———

"धरती कहे पुकार के,
बीज बिछा दे प्यार के,
मौसम बीता जाए,
मौसम बीता जाए।"

यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रतिनिधि मंडल में अधिकतर सभी युवक थे, २०–२२ वर्ष की उम्र के करीब के।

आवारा और **दो बीघा जमीन** की इस असाधारण लोकप्रियता की तुलना में सोवियत संघ या चीन में अन्य किसी नई फिल्मों के लिए और तो और अभिताभ बच्चन या मिथुन चक्रवर्ती के लिए भी लोकिप्रयता हासिल करना आज भी अत्यंत मुश्किल बात है।

ब्रिटेन में लगभग सभी बड़े समाचार पत्रों में **दो बीघा जमीन** पर समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं।

दो बीघा जमीन पिछले वेनिस समारोह की भारतीय विजेता नव–यथार्थवाद की प्रतिनिधि फिल्म है (निर्देशक बिमल राय), इसलिए भी विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योंकि यह भारत से अपनी तरह की पहली फिल्म है। अन्य किन्हीं अर्थों से कहीं अधिक भारत राजनीतिक अर्थों में एक बिल्कुल नया देश है। यह थोड़ा अटपटा भी है कि भारत की आजादी

के बाद के आरंभिग दौर में ही कई भारतीय निर्देशक एक क्रुद्ध निराशावादी फिल्म का निर्माण करें। (मैनचेस्टर गार्डियन १८ अगस्त १९५६)। एक दूसरा समाचार पत्र **न्यू क्रानिकल** फिल्म समीक्षा कोई इस प्रकार करता है, "बिमल रॉय द्वारा बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से निर्देशित, कमल बोस द्वारा बहुत ही सुंदर ढंग से छायांकित और सभी के द्वारा अत्यंत हृदयस्पर्शी अभिनीत यह अत्यंत त्रासद, सर्वाधिक सूचनापूर्ण और सर्वाधिक यागदार फिल्म मैंने पूरे साल भर में अकेली देखी है। **उम्बर डी–४९** जो उपेक्षित बुजुर्गों के बारे में थी। वाद किसी फिल्म ने इतना विचलित नहीं किया। **दो बीघा जमीन** उपेक्षितों का पक्ष तो रखती ही है, बल्कि सभी उम्र के शोषितों और खासकर युवकों के लिए जो शहर में उपेक्षित और शोषित हैं और एक दुनिया के नागरिक बनने देने से जिन्हें वंचित किया जा रहा है।

दो बीघा जमीन का स्थान हमारे सिनेमा इतिहास में हर–हमेशा सुरक्षित रहेगा। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण पाँच फिल्मों में हमेशा गिनी जाती रहेगी—सामाजिक संदेश के लिए शाश्वत और मानवीय आग्रहों में भी शाश्वत।

उनके मुख्य कैमेरामैन कमल बोस, जो अभी भी बंबई में सक्रिय हैं, राय की कार्य शैली के बारे में कहते हैं— "बिमल दा किसी प्रकार की पद्धति का अनुकरण नहीं करते थे, और उस आरंभिक दौर में पद्धतियाँ भी कोई क्या थीं? यह वक्त अनुभव करने, सीखने का था। वे ऐसे व्यक्ति थे जो अपने दृश्यों को बहुत ही सावधानी के साथ रूपायित करके देखते हैं। वे कैमेरा के करीब खड़े रहते थे और ध्यान से देखते थे कि मैंने क्या किया है? प्रकाश योजना में परिवर्तन, कैमेरा स्थिति में परिवर्तन। कई बार मेरे सहायक शर्त लगाते ... कि यदि वे परिवर्तन न करें तो मैं क्या करता? मैं निश्चित ही शर्त हारता। हमने अनौपचारिक वातावरण में काम किया। सभी को पूर्ण स्वतंत्रता उपलब्ध थी। जो हम अनुभव करते थे, वह उनसे कह सकते थे। वे हमेशा ध्यान से सुनते थे। एक छोटी सी बात कहना चाहूँगा कि कैसे वे हमारी सुनते थे और दूसरों की राय का सम्मान करते थे। बिमल दा इस वक्त एक बड़ा नाम बन चुके थे। हम मोहन स्टूडियो में फिल्मांकन कर रहे थे। वहाँ मनोहर नाम का एक इलेक्ट्रिशियन था। एक शॉट के बाद बिमल दा मनोहर की तरफ मुखातिब हुए और कहा, "क्यों रे, अच्छा नहीं लगा।" मनोहर ने अपना सर हिलाया। तुरंत ही बिमल दा ने फिर से उसी शॉट को किया। मुझे एक दूसरी घटना भी याद आती है। हम लोग **अजानगढ़** की आउटडोर शूटिंग पर थे। दृश्य क्रम डॉक्टर की

हत्या का था। पहला शॉट लिया जा चुका था। जल्दी में मैंने सलाह दी कि
दूसरा शॉट भी ले लिया जाए। जहाँ डॉक्टर का मेडिकल बेग गिरता है
और चीजें बिखरने लगती हैं। जैसा मैंने सुझाया था उन्होंने उसी तरह से
शॉट किया। सिनेमा उद्योग में बिमल दा जैसी अचूक दृश्य रचना की
संवेदना वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। उनकी बुद्धिमत्ता, उनका धैर्य
और इन सबसे भी बढ़कर उनकी महान् मानवीयता। "बोस ने बिमल
राय की कुछ डाक्यूमेंट्रीज के लिए भी काम किया है। और उनके निरीक्षण
में **हमराही** फिल्म में कैमेरा भी संचालित किया। उन्होंने रॉय का एक
समर्पित छात्र के रूप में अवलोकन भी किया है। उनकी प्रकाश योजना
प्रयोगात्मकता और विविधता का खासकर।" हमारे जमाने में सैट बिना
प्रकाश स्रोत के दर्शाए जाते थे। बिमल दा ने सबसे पहले इस अवधारणा
को प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रकाश योजना की परंपरा में क्रांतिकारी
परिवर्तन किया। बिमल दा सुबह बाहरी शूटिंग के लिए जोर देते थे
सूरज अधिक प्रखर होने के पहले का वक्त शूटिंग के लिए सही वक्त होता
है। परिणामस्वरूप वही दृश्य प्रकाश की निरंतरता में अनेक सुबहों में
फिल्मांकित किया गया। कोई और इस तरह का विस्तृत काम करने में
आज भी दिलचस्पी नहीं लेता।

बिमल दा मूड की रचना के विशेषज्ञ थे। उन्होंने फ्रेम में अतिरिक्त
रूमानी टैक्सचर लाने के लिए असाधारण तरीकों की इजाद की। एक
रात्रि गीत में उन्होंने सैट पर नुजोल का स्प्रे किया, जिससे धुएँ जैसा
माहौल बन गया और परदे पर रूमानियत भरी कौंध।

उदयेर पाथे के बागीचे में रात में फिल्माए गीत की याद करें। चाँदे
हाशी बंद बहेंगे चे . . . .। साफ्ट फोकस के लिए बिमल दा लैंस के
पहले गेज का उपयोग करते थे –इससे क्लोजअप की अभिभूत कर देने
वाली अनुभूति पैदा होती थी। कई बार उनकी प्रकाश योजना नाटकीय
होती थी। **बंदिनी** के हत्या वाले दृश्यबंध में जब नूतन अपने पूर्व प्रेमी की
पत्नी की हत्या की कल्पना करती है—एक रोशनी सीधे लैंस से टकराती
है। किसी चरित्र की छवि गढ़ने के लिए प्रकाश वृत्तों के जरिए नाटकीय
छाया की युक्ति आजमाई जाती थी . . . . उनकी कल्पना
आख्यान को ज्यादा से ज्यादा सिनेमेटिक बना देती थी।

न्यू थिएटर्स में काम करने के जमाने में बिमल रॉय ने शरत्चंद्र की
लोकप्रिय रचनाओं के फिल्म रूपांतरण देखे ...। शरदचंद्र का काम
निस्संदेह गहरी सामाजिक चेतना लिए हुए था—शरदचंद्र ने ही शायद
सबसे पहले अन्याय पर आधारित जाति प्रथा के विरुद्ध अपनी आवाज
बुलंद की थी। शरत् बाबू स्त्री का दृढ़ता से पक्ष लिए जाने के कारण ही

काफी चर्चित ..., बिमल रॉय पर ये गहरे प्रभाव छोड़ गई। जब उन्होंने पाया कि उनके विचारों के अनुकूल कोई समकालीन कहानियाँ नहीं हैं तो थोड़े पिछले जमाने के साहित्य की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने शरदचंद्र के उपन्यास पर आधारित तीन फिल्मों का निर्माण आरंभ किया, जिसमें **परिणीता** पहली थी। उसके बाद **बिराज बहू** बनी और अंत में **देवदास**।

"इसके लिए एक बड़ा अच्छा कारण था" बिमल रॉय ने एक बार स्पष्ट करते हुए कहा "शरत्चंद्र की हरेक कहानी में कथानक की बढ़िया संरचना होती है। नाटकीय प्रस्तुतियाँ होती हैं और विश्वसनीय चरित्रीकरण होता है तथा गहरी पैठ वाले संवाद होते हैं। कुल मिलाकर वहाँ एक गहरा मानवीय संस्पर्श होता है। ये महत्वपूर्ण विंदु ही फिल्मकार के लिए एक अच्छी सामग्री हैं।"

शरत्चंद्र की रचनाओं पर बिमल रॉय के फिल्मांकन पर टिप्पणी करते हुए श्री बी . के . करंजिया कहते हैं—"यह आश्चर्यजनक है कि खुद ही स्वीकार करने के बाद उन्होंने कहानी की सामाजिक प्रासंगिकता वाला तेवर जरा कम तीखा किया, जबकि कहानी बंगाल के रूढ़िवादी हिंदू समाज पर तीखी टिप्पणी थी। शरत्बाबू के प्रेमियों का कहना है कि बिमल रॉय कहानी की मूल क्रांतिकारिता और संश्लिष्ट संरचना से अलग ही हो गए हैं। अशोक कुमार और मीनाकुमारी का बेहतरीन चरित्रांकन जरूर याद किया जाने योग्य था।"

विमल रॉय की पीढ़ी के निर्देशक एक से अधिक फिल्म फ्लोर पर नहीं लाते थे यदि वे ऐसा करते भी थे तो वे सामान्यतः बहुत ही कम स्थितियों में होता था। बिमल रॉय ने इस परिस्थिति को टाला केवल एक बार को छोड़कर, जबकि उन्होंने **दो बीघा जमीन** के फिल्मांकन के दरम्यान ही **बाप–बेटी** का निर्माण भी आरंभ कर दिया था। निर्माता मुंशी जी ने बिमल रॉय पर इस फिल्म के निर्माण के लिए काफी जोर डाला था। वे उत्तरप्रदेश के थे तथा काफी विनम्र मिजाज के ...। वे दिन–रात रॉय का इंतजार करते रहते केवल एक शब्द "हाँ" सुनने के लिए। विषय का चयन, पात्रों का चुनाव, संगीत निर्देशक आदि सभी कुछ का निर्णय रॉय को ही लेना था। अनेक बार अनुत्साहित करने के बाद आखिरकार रॉय को "हाँ" कहना पड़ा। उन्होंने अपनी पुरानी पसंदीदा फिल्म सिमाँ की पापा, जो एक पिता विहीन लड़की की कहानी पर आधारित थी का पुनर्निर्माण था। फिल्म के लिए पात्रों का चयन थोड़े लीक से हटकर था। उस जमाने की चर्चित बाल अभिनेत्री बेबी तबस्सुम को लड़की के रूप में

लिया गया, मृदुला को लड़की की माँ के रूप में चुना गया और सबसे बड़ा आश्चर्य तो उस जमाने की फिल्मों के मशहूर तलवारबाज रंजन का चयन था। उन्हें लड़की के बाप की भूमिका के लिए पसंद किया गया।

केवल दो ही फिल्में रॉय ने बाहरी निर्माताओं के लिए हाथ में लीं। **बाप–बेटी** और **यहूदी** और दोनों ही उनके लिए कठिन साबित हुईं। पैसे की कमी के कारण निर्माण में देरी हुई और उनकी यूनिट को तनख्वाह के लिए महीनों इंतजार करना पड़ा और बाप–बेटी के मामले में तो उसके जारी होने और न होने की परेशानी भी जुड़ गई थी। आखिरकार **बाप–बेटी** ही ऐसी फिल्म है जो अब तक जारी नहीं हुई। यह निर्देशक के लिए सबसे अधिक पीड़ादायक था, जो अपनी तमाम रचनात्मक ऊर्जा फिल्म बनाने में लगा देता है, जैसा कि रॉय ने किया था।

विमल रॉय की फिल्मों में पात्रों का चयन हमेशा दिलचस्प होता था। कुछ एक तो विशुद्ध प्रायोगिक स्तर पर लिए जाते थे। जैसे **हिंदी सिनेमा की देवी** निरूपाराय को देहाती स्त्री के रूप में (**दो बीघा जमीन**) या तलवारबाज रंजन को चरित्र भूमिकाओं में। कुछ एक बार ये प्रायोगिक भूमिकाएँ गड़बड़ा भी जाती थीं। पर अधिकांश समय वे अपने कलाकारों से यादगार अभिनय कराने में सफल रहते थे। यह कहा जाना ठीक ही होगा कि बिमल रॉय "अभिनेताओं के निर्देशक" थे। अभिनेता उनके साथ काम करते हुए कुछ भी रच सकते थे। रॉय के बचपन के दोस्त हितेन चौधरी, रॉय के चयन के बारे में कुछ घटनाओं का जिक्र करते हैं, "विमल रॉय बहुत ही सरल आदमी थे। **देवदास** बनाने के दौरान वे यूसुफ (दिलीप कुमार) को नहीं जानते थे। शायद कभी उनकी मुलाकात हुई भी होगी उनसे पर उन्होंने मुझसे संपर्क किया। कहा, हितु मैं दिलीप से संपर्क करना चाहता हूँ। मैं उन्हें **देवदास** में लेना चाहता हूँ। मैंने कहा कि यूसुफ को क्यों लेना चाहते हैं? वह तो भूमिका के लिए उपयुक्त नहीं है और वह फिर काफी महँगे कलाकार भी हैं। मैं समझता हूँ उस वक्त दिलीप कुमार कोई ७५ हजार रुपए पारिश्रमिक लेते थे और यह पारिश्रमिक उस जमाने में सबसे ज्यादा था। विमल राय ने कहा नहीं, मैं उन्हें चाहता हूँ। मैंने **देवदास** के फिल्म अधिकार के लिए भारी रायल्टी दी है और उसे संतुलित करने के लिए मुझे बड़े कलाकार लेना ही होंगे। मैंने कहा ठीक है। मैंने उन्हें चंद्रमुखी की भूमिका के लिए निम्मी को लेने की सलाह दी और कहा वह भावुक भूमिकाओं के लिए सबसे बढ़िया है और मैं उन्हें अच्छे से जानता हूँ। वह यह भूमिका कर लेंगी। बिमल ने कहा'हुम'—पर उन्होंने कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया। थोड़ी देर बाद

उन्होंने कहा कि मैं वैजयंतीमाला को लूँगा। मजाक में मैंने कहा कि बिमल तुमने तो बहुत शानदार चयन किया है। हाल ही में ए .वी .एम . की हिट फिल्म **बहार** आई थी जिसमें किशोर कुमार और वैजयंतीमाला ने काम किया था। तो मैंने कहा कि तुम किशोर कुमार को **देवदास** के लिए क्यों नहीं लेते? उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। हम शहर में गए और केवल आधे घंटे बाद बिमल रॉय ने मुझसे कहा कि हितु तुम मुझसे मजाक कर रहे थे। जहाँ तक कलाकारों का संबंध है वे बिमल राय का बड़ा सम्मान करते थे। जब दिलीप कुमार **देवदास** में काम कर रहे थे तो उनके बारे में अपने निजी अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि **देवदास** में दिलीप की भूमिका दिलीप कभी नहीं समझ पाए। कई बार वे रात के दो बजे शूटिंग से लौटकर आते और कहते चौधरी साहब **देवदास** किस प्रकार का नायक है? अँधेरी रात में लड़की उसके पास आती है। काफी बड़ी जोखिम उठाकर और देवदास जो पहली बात पारो से कहता है वह यह कि "क्या तुम्हें किसी ने आते हुए देखा है?" और उसके बाद कहता है कि "मैं तुम्हें घर पहुँचा देता हूँ।" दिलीप ने कहा कि मैं तो पठान हूँ और ये चीजें मैं कैसे मान सकता हूँ, लेकिन बिमल ने उन्हें स्थिति समझाई और उसके बाद उन्हें मँजा हुआ अभिनय मिला। उनके कलाकार उन्हें बड़ा सम्मान देते थे। जब वे देखते थे कि फिल्म पूरी हो गई है तब उनका आदर बिमल राय के लिए और भी ज्यादा बढ़ जाता था। कुल मिलाकर मैंने यूसुफ से बात की और वे फिल्म में काम करने के लिए तैयार हो गए।"

किसी और वक्त जब मैंने **बिराज बहू** की घोषणा की। मधुबाला मेरे पास आयी। उसने कहा चौधरी साहब मैंने किताब पढ़ी है। यह जीवन की सबसे बड़ी भूमिका है और मैं बिराज की भूमिका करना चाहती हूँ। मैं जानता था कि हम बड़े सितारों का खर्च नहीं उठा सकते। हमारी तो छोटे बजट की फिल्म थी। मैंने कहा कि हम उसे नहीं ले सकते। मधुबाला फिर से आयी और कहा कि जब मैंने कहा कि मैं **बिराज बहू** में काम करना चाहती हूँ तो पैसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। मैं केवल एक रुपये के स्टॉम्प पेपर पर भूमिका साइन करूँगी। लेकिन मैंने कामिनी कौशल को लेना पसंद किया चौधरी ने कहा। वहीं बिमल रॉय का एक जिद्दी पक्ष था। यदि उन्होंने किसी चीज के लिए तय कर लिया है तो फिर उसे कोई चीज बदल नहीं सकती। और उसका प्रभाव उनके पात्रों पर भी पड़ता था। **परिणीता** के दरम्यान हरेक ने उन पर दबाव डालने की कोशिश की कि अशोक कुमार के साथ नलिनी जयवंत को लिया जाये। पाँचवें दशक के आरंभिक दौर में दोनों की जोड़ी

मशहूर थी। लेकिन उन्होंने जोर मीना कुमारी के लिए दिया। **मधुम**
दरम्यान उनके सलाहकारों ने फिल्म की बॉक्स ऑफिस पर स
बढ़ाने के लिए शंकर-जयकिशन की जोड़ी को लेने के लिए म
बनाया। लेकिन वे सलिल चौधरी को लेने की जिद पर अड़े रहे ज
यूनिट के स्थायी सदस्य थे। निस्संदेह बिमल रॉय में अपनी कहानि
चरित्रों के लिए पात्रों के चयन के बाबत् अत्यंत परिष्कृत संवेदन
बोध था।

काफी पहले जब धर्मेंद्र सितारा नहीं बने थे तब बिमल र
मिलने के लिए वे आये। वे अपने पैतृक गाँव से बिल्कुल हाल ही म
थे। अच्छी तरह हिन्दी नहीं जानते थे और अभिनय की कोई
योग्यता भी नहीं थी। लेकिन धर्मेंद्र की ताजगी और भोलापन
रॉय को अधिक पसंद आया। उन्होंने अपने ऑफिस मैनेजर श्री श
कहा कि पंजाब से आये इस ताजगी भरे चेहरे वाले युवक को
फिल्म के लिए साइन कर लें। शाह ने आगे बनने वाली फिल्म के
उन्हें अनुबंधित कर लिया। शाह ने धर्मेंद्र को बतौर टोकन १००/
दिये। हर कोई भूल सकता है लेकिन धर्मेंद्र इस घटना को भूल नहीं
वे आँसूभरी आँखों के साथ इसे याद करते हैं। सिनेमा उद्योग से
इस पहली कमाई को जिससे उन्हें बाद में लाखों रुपये मिले। "मैं
रॉय से मिलने आया। जेब में एक पैसा भी नहीं था। लौटा तो आ
और सपने के साथ।"

कुछ वर्षों बाद जब बिमल रॉय अपनी अंतिम फिल्म बं
लिए एक उपयुक्त अभिनेता खोज रहे थे ज आदर्शवादी यु
डॉक्टर की भूमिका कर सके। जिसे सभी सामाजिक पूर्वग्रहों को
रखकर हत्या के जुर्म में सजा काट रही युवती से शादी करना थ
के मिलने तक इस भूमिका के लिए कलाकार की उनकी खोज
रही। संयोगवश गुलजार ने अपना पहला गीत **बंदिनी** के लिए
और इस तरह से उनकी जैसी प्रतिभा बिमल रॉय प्रोडक्शन के
उभरकर सामने आयी। उनके आसपास चुने हुए तकनीशियन क
था जो उस वक्त सिनेमा उद्योग में श्रेष्ठतम् था और जो आगे
महत्वपूर्ण निर्देशक के रूप में सामने आया। ऋत्विक घटक या
हुए कहते हैं, "मेरे दूसरे भाई इंग्लैंड से १९३५ में आये। वहाँ
साल डाक्यूमेंट्री कैमरामेन के रूप में काम करने के बाद वे १९३
थियेटर्स में शामिल हुए। वे **स्ट्रीट सिंगर** में जिसमें सहग
काननबाला की मुख्य भूमिकाएँ थी, के सहायक कैमरामेन थे

जरिये मैं प्रेमवेश बरुआ और बिमल रॉय जैसे लोगों से मिल सका। वे अकसर हमारे यहाँ आते थे। उन फिल्मों की सराहना का एक वातावरणसा बन गया था। अन्य लोगों की तरह मैं भी उन फिल्मों को देखने के लिए बेचैन रहता था।

घटक ने राय के सहायक के रूप में **ताहाव्वी** फिल्म के निर्माण में बतौर सहायक काम किया लेकिन बिमल रॉय ने इस फिल्म का श्रेय नहीं लिया। बाद में व्यावसायिक वातावरण में अपनी संभावनाओं के घुटने के कारण बंबई में बसने की सारी आशाएँ घटक ने छोड़ दी। तब बिमल रॉय ने उन्हें फिल्म लिखने के लिए आमंत्रित किया। घटक ने रॉय के लिए **मधुमती** फिल्म लिखी थी।

शुरू से ही व्यावसायिक अतिरंजना के रूप में नियोजित **मधुमती** ने दूसरी तरह का संकट ला खड़ा किया था। बिमल रॉय प्रोडक्शंस का पूरा भविष्य इस फिल्म की सफलता पर निर्भर था। रॉय द्वारा खेला जाने वाला यह आखिरी जुआ था। कहीं अधिक अप्रत्याशित विषय जिसे फिल्माने का साहस उन्होंने पहले की नहीं दिखाया था। यह एक भूत की कहानी थी और जिसमें सभी बॉक्स ऑफिस फॉर्मूला खलनायक, हास्य कलाकार, पहाड़ी पर रोमांस आदि सभी कुछ डाला गया था। घटक जैसे प्रगतिशील वामपंथी के लिए तो इस तरह का विषय विचार से परे था। बाद में मजाक में उन्होंने कहा, "मैंने बिमल रॉय के लिए भूत की कहानी लिखी है जो खुद उनके प्रोडक्शन को ही खत्म कर देगी।" लेकिन **मधुमती** ने इससे ठीक उल्टा किया। इनसे बिमल रॉय प्रोडक्शन्स को न केवल नया जीवन दिया बल्कि एक आश्रयदाता सफलता की स्थिति भी अर्जित कर ली। बिमल रॉय का कैरियर १९३२ से १९६६ के बीच फैला हुआ है। वे न्यू थियेटर्स जैसी संस्थाओं के उत्थान से जुड़े रहे थे। उन्होंने भारतीय सिनेमा की पहली पीढ़ी के महानतम् फिल्माकारों के साथ काम किया था। वे भारतीय सिनेमा के स्वर्णयुग के गवाह थे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों बिमल रॉय ने बॉम्बे फिल्म इंडस्ट्री के नेता के रूप में जाने जाते थे लेकिन वे अपने प्रिय सिनेमा उद्योग के पतन को, उसमें मानवीय मूल्यों के अवसान को रोक नहीं सके।

जब वे इंडियन मोशन पिक्चर एसोसिएशन (इम्पा) के अध्यक्ष थे तो भी सिनेमा उद्योग में काले धन के प्रभाव पर नियंत्रण नहीं पा सके। उन्होंने 'इम्पा' को छोड़कर खुद अपना सगठन बनाना चाहा। उन्हीं के साथ ११ श्रेष्ठ बंबई के फिल्म निर्माताओं ने भी इम्पा को छोड़ दिया और यूनाइटेड प्रोड्यूसर्स की स्थापना भी की। इस संस्था ने निर्णय लिया

कि वे एक किसी अभिनेता या संगीत निर्देशक को नहीं लेंगे जो काल
धन माँगेगा। बिमल रॉय इस सिलसिले में और आगे आये औ
पुनर्निमाण की दृष्टि से **सहारा** फिल्म का निर्माण आरंभ किया। इ
फिल्म में धर्मेंद्र और शर्मीला टैगोर भी थे। फिल्म नहीं बन सकी
आरंभिक शूटिंग के कुछ दिनों बाद ही सितंबर १९६४ में बिमल रॉ
गंभीर रूप से बीमार हुए।

बिमल रॉय के दो अन्य सपने थे जो कि कभी पूरे नहीं हुए। एक तो
संपूर्ण महाभारत पर फिल्म बनाने का जो संभवतः संयुक्त निर्माण होत
और समरेश बसु के पुरस्कृत उपन्यास **अमृत कुम्भेर अनुसंधाने** पर भी
फिल्म बनाना चाहते थे। ऋत्विक घटक भी इस पर फिल्म बनाना चाहते
थे पर फिल्म नहीं बन सकी।

जब बिमल रॉय का जनवरी ८, १९६६ को देहांत हुआ तो समू
सिनेमा उद्योग ने उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया। उनका पूर
जीवन सिनेमा को अधिक मानवीय बनाने और इस शक्तिशाली माध्य
के जरिये हमारी परिस्थितियों की को बेहतर समझ विकसित करने
लिए समर्पित था।

☐ **रिंकी भट्टाचार्य**

एक आलोचनात्मक आकलन

श्याम बेनेगल की निगाह से

बिमल रॉय के काम से आप कब परिचित हुए?

मैं सोचता हूँ कि उनके काम से मैं काफी पहले ही परिचित हो चुका था। **दो बीघा जमीन** फिल्म वह फिल्म थी जिसने अनेक वजहों से मुझे आर्कषित किया। जब मैंने **दो बीघा जमीन** देखी, तब मैं स्कूल में पढ़ता था। जब मैंने इस फिल्म को देखा तो इसने मुझे न केवल इसलिए प्रभावित किया कि यह अब तक जो देखा था उस सबसे वह बिल्कुल अलग है......तब तक मैंने बिना यह जाने फिल्में देखी थीं कि यह बिमल रॉय कैमरामैन थे या निर्देशक। मैं इसके बारे में सचेत नहीं था। इससे मुझे पता नहीं चला कि इस फिल्म को किसने बनाया। **दो बीघा जमीन** वह फिल्म थी जिससे मैं नाम के बारे में भी खोज करने लगा। **दो बीघा जमीन** से अचानक मेरी उनके नाम से पहचान हुई- बिमल रॉय- और एक हिन्दी लेखक के रूप में उनके काम को जानना शुरू किया। बिमल रॉय को एक फिल्म लेखक के रूप में मैंने **दो बीघा जमीन** से ही जानना शुरू किया,

उससे पहले नहीं।

यह बाद की बात है कि मैंने उनके कुछ आरंभिक काम को देखा- मैंने बरूआ की **देवदास** का हिन्दी संस्करण देखा जिसमें वे कैमरामैन थे, बतौर कैमरामैन उन्होंने जो काम किया वह बहुत बाद में देखने को मिला और उन दिनों मैं खुद भी फिल्मकार बनने के रास्ते पर था। पर यह कारोबारी दिलचस्पी से कहीं अधिक बढ़कर था। यह देखना कि कैसे उन्होंने कैमरामैन से लेखक तक प्रगति और विकास किया......तो बिमल रॉय के साथ यह मेरा पहला अनुभव था। **दो बीघा जमीन** उनकी पहली फिल्म थी, जिसने मुझे बहुत गहरे तक प्रभावित किया। जिस चीज ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह यह कि उस समय बंबई फिल्म उद्योग में एक और तो मेहबूब जैसे लोग थे और दूसरी ओर व्ही . शांताराम जैसे दूसरे फिल्मकार थे । मैं सोचता हूँ कि ये दो काफी बड़े नाम थे - और अधिकतर लोग उनकी फिल्में इसलिए देखना चाहते थे क्योंकि ये उन्होंने बनाईं हैं। आप मेहबूब की फिल्म देखने जाते हैं तो इसलिए नहीं कि उसमें सितारे हैं बल्कि इसलिए कि यह मेहबूब की फिल्म है और ठीक उसी तरह आप शांताराम की फिल्म देखने जाते हैं, और इनके साथ यह तीसरा नाम था। आप बिमल रॉय की फिल्म देखने जाते हैं।

बिमल रॉय के कुछेक युवा समकालीन उन्हेंपथ- प्रदर्शक के रूप में संबोधित करते हैं, खासकर सिनेमेटोग्राफी में उनके योगदान के बाबत् क्या आप इससे सहमत हैं?

हाँ। मैं सोचता हूँ कि फोटोग्राफी फिल्म को एक निश्चित संरचना या अनुभूति प्रदान करती है। एक पथ प्रदर्शक के रूप में और सिनेमा के महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में बिमल रॉय का काम प्रकाश छायांकन का स्रोत है जो इस बात की परवाह करता है कि प्रकाश स्रोत कहाँ से एक सेट या एक जगह को प्रकाशित कर रहा है—चाहे यह रात हो या दिन। जो यकायक सेल्यूलाइड पर एक नया तत्व लाता है- यह अचानक एक को यथार्थ से जोड़ देता है। आप कह सकते हैं कि किस समय यह स्थिति घटित होती है- तो वहाँ यथार्थ से एक सम्बन्ध है और बिमल रॉय की फिल्म में यथार्थ के साथ यह सम्बन्ध हमेशा रहा है।

एक निर्देशक और कैमरामेन यह उनका बड़ा भारी योगदान है। लेकिन और भी अनेक दूसरे कैमरामेन हैं जिन्होंने उनके पहले फोटोग्राफी के प्रकाश स्रोत की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। कहानी कहने में इससे एक नया तत्व विकसित हुआ। रात या दिन के समय फिल्म में महत्वपूर्ण

थे जिसका मतलब है कि आपकी बीजगर्भित दृष्टि है। आप एक क्षेत्र में प्रजायी स्तर पर जाते हैं और आख्यान को यथार्थ से जोड़ते है। इस तरह की अवधारणा पहली बार देखने में आयी, साथ ही मैं यह भी स्वीकार करना चाहूँगा कि प्रभात पुणे में बनी उस समय की आरंभिक फिल्मों में उस तरह की गुणवत्ता कहीं अधिक थी जिसका कारण सैट्स बनाने का उनका तरीका था। या प्रभात की फिल्मों की वेशभूषा या मैकअप का तरीका था जिन्होंने उन्हें उन अर्थों में यथार्थ से जोड़ा। फत्तेलाल और दामले का सैट पर आधारित काम अत्यंत यथार्थवादी था। वेशभूषा और आंतरिक सज्जा यथार्थवादी थी, प्रदर्शन की शैली बंगाली फिल्मों से अलग थी। बंगाली फिल्मों में अभिनय की औपचारिक शैली नाटकों पर कही अधिक आधारित थी। जब मैं नाटकों पर आधारित कहता हूँ तो मेरा मतलब बंगाल के रंगमंच से है और बंगाल में उस वक्त का रंगमंच खासकर नागर रंगमंच यूरोपीय और ब्रिटिश रंगमंच से बड़े स्तर पर प्रभावित था। यथार्थवाद की अवधारणा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के रंगमंच से आई है, जबकि यहाँ प्रभात में यह जीवन से सीधे आई है।

बिमल रॉय की फिल्मों में, जिन्हें वे बंगाल में बनाते रहे, मैं सोचता हूँ कि वे एक खास तरह से बंगाल की परम्परा का हिस्सा है। लेकिन वे जबसे बंबईआए- प्रस्तुति के संदर्भमें- प्रस्तुति का एक प्रकार जो कोई उनकी फिल्म में देखता है- खासकर **दो बीघा जमीन** से एक तरह का **जल विभाजक** (वाटर शेड) है। **दो बीघा जमीन** के बाद आप पाते हैं कि वे यथार्थ से कहीं ज्यादा जुड़ गए हैं और अभिनय की एक खास तरह की शैली के अंश के रूप में भी जुड़े हैं। जो कम से कम नाटकीय है। जहाँ आप यकायक पाते हैं कि लोग सहज हैं वे अभिनय नहीं कर रहे हैं- वे भूमिका निबाहने की जगह जीवन से जुड़ रहे हैं। इस तरह के थे यह सब तत्व उनके काम में देखने को मिलते हैं। इसलिए मैं सोचता हूँ कि यह निश्चित रूप से उनके भीतर निहित वातावरण की वजह से है। बंबई स्वतः ही एक दूसरी तरह की परम्परा से संबद्ध है। यह कहीं पारसी रंगमंच के सादृश्य है। याद कीजिए **सागर मूवीटोन** और उस जमाने की दूसरी प्रस्तुतियाँ। वहाँ एक खास तरह की परम्परा थी। यहाँ लेकिन वे अपने आस- पास की चीजों से सर्वथा बदले हुए रूप में प्रकट हुए और इसीलिए वे उस जड़ से जुड़े हुए नजर आते हैं जिससे महान् फिल्मकार सत्यजीत राय जुड़े नजर आते हैं।

बिमल रॉय के काम को देखते हुए क्या आप यह कहना चाहेंगे कि वे

सिनेमेटोग्राफी के स्तर पर प्रारंभिक सोवियत सिनेमा से प्रभावित थे ?

हो सकता है, मैं यह कहने के योग्य नहीं हूँ। उस वक्त ये बात स्पष्ट नहीं थी क्योंकि उस वक्त बहुत से लोग थे जो सोवियत सिनेमा से प्रभावित थे। यह कहना बहुत मुश्किल है कि विमल रॉय की फिल्मों में जो तत्व आप पाते हैं वह उस प्रभाव के कारण हों। तीसरे दशक में बहुत सारे लोग थे यह प्रभाव हमारे समय में तीसरे दशक मे आया जो सोवियत सिनेमा से प्रभावित है। आजकल जो लोकप्रिय पदावली है- रूसी कोण की जो अवधारणा है कि आप गति- विज्ञान की फ्रेम का इस्तेमाल करते हैं- अभिनय के लिए उर्द्धवाधर (वर्टिकल्स) का इस्तेमाल करते हैं या किसी अभिनय के विरुद्ध ही आप कैमरे को थोड़ा- सा टिल्ट करते हैं तो जो मुख्य- आकृति है आपकी तरफ झुकने लगती है। उदाहरण के लिए सोवियत फिल्मकार खासकर आइजेंस्ताइन ने अपने सिनेमा में इसका सबसे ज्यादा इस्तेमाल है या पुडोवकिन ने भी अक्सर अपने सिनेमा में इसका इस्तेमाल किया है। वे फिल्में उन दिनों हिन्दुस्तान आती रहती थीं। हमने मेहबूब जैसे फिल्मकारों में यह सब काफी देखा है, अधिक प्रमाण स्वरूप और अधिक स्पष्ट रूप से। बिमल रॉय की तुलना में कहीं ज्यादा। मुझे उनकी फिल्म **रोटी** याद आती है। कुछ फ्रेम्म- केवलसोवियत सिनेमा ही नहीं बल्कि स्ट्रॉहेम और जर्मन सिनेमा का प्रभाव भी था हाइकान्ट्रास्ट लाइटिंग के संदर्भ में- दीवार पर बड़ी- बड़ी छायाएँ- उस तरह की सामग्री फ्रिट्ज लेंग या अभिव्यंजनावादी जर्मन शैली में देखने को मिलती हैं और रूसी कोण के संदर्भ में- जो कि बम्बई फिल्म उद्योग में रूसी कोण के नाम से लोकप्रिय था, जिसका मतलब कैमरे को टिल्ट करना था। धीरे से वाइड एंगिल लेंसों का इस्तेमाल। मुझे याद नहीं आता कि बिमल रॉय इस तरह की युक्तियों का इस्तेमाल करते थे। वाइड एंगिल का बहुत अधिक इस्तेमाल उनके द्वारा नहीं किया गया। उन्होंने मानवीय मापांक का उपयोग किया है- जैसा कि जीवन में है ठीक उसी तरह के सम्बन्ध में उन्होंने आकृति को वातावरण पर अत्यधिक पछियाने के लिए उपयोग नहीं किया- जो मापांक उन्होंने उपेयोग किया था वह मानवीय मापांक था। उनकी शैली इस तरह की थी- दूसरी बात उनके क्लोज अप्स की है। उनके लैंस १५ की तरह थे वे एक्सट्रीम लांग फोकस लैंस में नहीं जाते थे न ही यकायक टेक ओव्हर करते थे या आकृति को अभिभावी नहीं बनाते थे। वे वातावरण और चरित्र के बीच भी एक सम्बन्ध बनाकर रखते थे।

क्या यह तरीका उनके निरूपण को मानवीयीकृत करने का था?

यह सही है- जब मैं कहता हूँ कि वे यथार्थ से जुड़ रहे थे और मानवीय मापांक का उपयोग कर रहे थे - तो यह मानवीयीकृत होने की प्रक्रिया ही है। आप मनुष्य को मनुष्य- मात्र दिखलाने के लिए रच रहे हैं- उसी मापांक में। चीजों से नहीं आप कैमरा लैंस के जरिये यह कर सकते हैं। 'अभिनय' की रचना या उन्हें 'नायक के समानुपात' में लाने. चरित्रों को जीवन से कहीं अधिक विशाल बनाने के लिए या उन्हें छोटा करने के लिए सिनेमा की ये कुछ अभिव्यंजनावादी युक्तियाँ हैं। जर्मन सिनेमा ने इनका काफी इस्तेमाल किया। उस अर्थ में मैं नहीं जानता कि बिमल रॉय ने यह सब कैसे आविष्कृत किया। मैं एक व्यक्ति के रूप में उन्हें बहुत कम जानता हूँ। उनके अपने सम्बन्ध कैसे थे . वे क्या पढ़ते थे या उन्होंने क्या पढ़ा, कैसे वे अपने जीवन के साथ सम्बन्ध बनाते थे - मैं नहीं जानता। उनके बारे में मेरा ज्ञान था या जानकारी पूर्णतः उनकी कृतियों के माध्यम से है। कुल मिलाकर उनके बारे में व्यक्तिशः जानकारी मुझे बिल्कुल नहीं है।

मैं सोचता हूँ कि वे परम्परा के हिस्सा थे - न्यू थियेटर्स परम्परा के। न्यू थियेटर्स परम्परा में मानवीयीकरण की प्रवृत्ति थी। यह, उदार पृष्ठभूमि के कारण, मुख्य रूप से थी जिसकी वजह से बंगाली सिनेमा खुद भी उभरा है। खासकर तीसरे दशक में। उस वक्त वहाँ पर एक बौद्धिक वातावरण था और उदारता भी। पश्चिमी और भारतीय दोनों ही अर्थों में सिनेमा के बारे में उनकी सोच एक तरह से रिफॉर्म मादर्न्डनेस थी। जो उदार प्रवृत्ति से आयी थी जो कि रूढ़िवादिता के विरुद्ध थी।

क्या यह बिमल रॉय के कथानक के चयन से भी स्पष्ट होता है?

संक्षेप में कहें तो हाँ।

उनकी एक फिल्म थी हरिजन लड़की को लेकर **सुजाता**। उनकी अधिकांश फिल्में सुविचारित रूप से पुनर्निर्माण से जुड़ी हुई थीं। या एक प्रकार की सामाजिक नैतिकता से या दूसरे पलायनवादी के अर्थ में नहीं जो आज के जो पलायनवादी हैं उनकी तरह। उन्होंने परिवार को एक सामाजिक इकाई के रूप में लिया। बिमल रॉय की फिल्म आर्थिक गैर बराबरी, सामाजिक शोषण के साथ विरूद्ध थी वे उनसे एक उदार फ्रेमवर्क में जुड़ी हुई थी। उनकी फिल्में एक सहानुभूतिशील बाहरी

आदमी के नजरिये से कहीं बढ़कर थीं। यहाँ किसान शंभू का गहरी सहानुभूति के साथ किया गया रूपायन है। निर्देशक उसका पर्यवेक्षण कर रहा है और उसकी समस्याओं के साथ सहानुभूतिपूर्वक संबंध बना रहा है। सहभागी के नजरिये का चलन काफी बाद में आया है। लेकिन बिमल रॉय के वक्त में यह खास उल्लेखनीय था।

बिमल रॉय की लोकप्रिय फिल्मों के बारे में क्या कहेंगे? उदाहरण के लिए 'मधुमती' को ही लें?

जब उन्होंने प्रेत कथा बनाई... उदाहरणार्थ **मधुमती** को ही लें। फिल्म बहुत ही सुन्दर तरीके से छायांकित की गई है और इसका संगीत भी अत्यंत मधुर है। बिमल रॉय के बारे में जो दूसरी बात है वह उनकी फिल्मों का संगीत और कविता को लेकर है। गीत बहुत ही सुन्दर तरीके से लिखित और संयोजित हैं। निश्चित रूप से संगीत के लिए उनके कान बहुत ही संवेदनशील थे।

मुझे एक घटना याद आती है। गुरुदत्त **कागज़ के फूल** बना रहे थे और वे पहली बार सिनेमास्कोप का इस्तेमाल कर रहे थे। उन्होंने कागज के फूल की कुछ एक रीलें कीं और निर्णय लिया कि वे इसे फिल्म उद्योग के सहयोगियों को अपने पॉली हिल स्थित बंगले में दिखायेंगे। गुरुदत्त ने अपने बागीचे में सिनेमास्कोप स्क्रीन लगाया। मुझे याद है कि गुरुदत्त ने उस्ताद विलायत खाँ साहब को भी सितार बजाने के लिए निमंत्रित किया था। गुरुदत्त दर्शकों की प्रतिक्रिया को लेकर, जो कि उनके हिसाब से संतोषजनक नहीं थी, काफी नर्वस थे। वे अपने अतिथियों को कुछ पेय दे रहे थे। वहाँ से एस . मुखर्जी, सुबोध मुखर्जी और काफी दूसरे लोग जाने के लिए बेचैन थे। प्रायः वे गुरुदत्त की फिल्म की देखी गयी रीलों के बारे में कुछ कहने से बचना चाहते थे। मुझे याद है कि बिमल रॉय इन लोगों से कह रहे थे, "फिल्म भी संस्कृति का एक हिस्सा है, इसलिए मत भागो कि विलायत खाँ सितार बजाने जा रहे हैं। बेहतर होगा कि बैठो और उन्हें सुनो और केवल पीकर मत चले जाओ।" जहाँ तक मुझे याद पड़ता है कि वे लोग रुके नहीं सब चले गये। लेकिन आपके पिता वहीं ठहरे रहे।

तो यह था। बिमल रॉय की सांस्कृतिक रुचि अत्यंत परिष्कृत थी, जो उनके फिल्म बनाने के तरीके में भी स्वतः ही दिखाई पड़ती है और तो और जब उनके विषय **मधुमती** की तरह अति लोकप्रिय होते है, तब भी। मुझे याद है कि जब **मधुमती** जारी हुई थी तब अन्य फिल्में भी थीं

जिनका नाम मुझे याद नहीं और यह फिल्म अन्य तमाम फिल्मों में सबसे अलग थी और आप कह सकते थे तुरंत कि यहाँ वह फिल्मकार है जिसने यह फिल्म बनाई है जिसके पास महान सौंदर्यबोध है, जो कि दूसरों में नहीं है।

'दो बीघा जमीन' के बाद बिमल रॉय की और कौन सी कृति ने आप पर वैसा ही प्रभाव डाला?

दो बीघा जमीन के बाद मैंने कई फिल्में देखी। वास्तव में एक लेखक के रूप में उनका अनुसरण किया। जो फिल्म मुझे असाधारण क्षमता से भरपूर नजर आयी वह थी **परिणीता**। वास्तव में कई बार मैं सोचता हूँ कि **परिणीता** बिमल रॉय की सर्वश्रेष्ठ कृति है। पटकथा और मिजान एन सीन के अर्थों में, चरित्र के विकास और फिल्म के निर्वाह के अर्थ में भी। तो भी मुझे लगता है कि यह बॉक्स ऑफिस पर यह बहुत सफल नहीं रही थी।

नहीं यह भरपूर सफल रही।
क्या यह सफल थी'

मैं सोचता हूँ कि वह फिल्म उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। मैंने उसे काफी वर्षों से नहीं देखा है। मैं जो कह रहा हूँ वह तीस वर्ष पहले जो देखा है उसके आधार पर, लेकिन जो मुझे उस वक्त महसूस हुआ था, वह यही बात है। इस बात को तीस पैंतीस साल हो गए हैं जब मैंने **परिणीता** देखी। लेकिन मेरे विचार में यह भारतीय सिनेमा की एक असाधारण उपलब्धि है। ठीक उसी तरह का अनुभव मुझे तब हुआ जब मैंने सत्यजीत रॉय की **चारूलता** देखी। सच ही यह कृतियों में रत्न है। और दोनों ही फिल्मों में हरेक काम बहुत ही परिष्कृत ढंग से साथ साथ किया गया है और एक सुघड़ छोटी कलाकृति में रचित है। यही बात मैं **परिणीता** के बारे में अक्सर सोचता हूँ। तो भी मुझे उसके बाद फिर से इसे देखने का मौका नहीं मिला वह बिमल रॉय द्वारा बनायी गयी अत्यंत परिष्कृत फिल्म है। इसमें एक अचूक संतुलन है जो अंततः उभरकर आया। फिल्म की बारीकियाँ सुंदर थी वह **परिणीता** थी। यह ठीक है कि वहाँ और भी काफी फिल्में थीं। अनेक फिल्में हैं उनकी लेकिन मैंने उनकी दूसरो कृतियों में कभी भी वहो गुणवत्ता नहीं पायी जो इन दोनों **दो बीघा जमीन** और **परिणीता** में हैं। **दो बीघा जमीन, परिणीता** और **मधुमती** मेरे लिए वह आवश्यक स्तर है जिसमें बिमल रॉय ने काम किया।

जब आपने बिमल रॉय की परम्परा को उदार पुनरुत्थानवादी के रूप में उल्लेखित किया है तो आज उनकी कृति किस प्रकार से प्रामाणिक है?

वे निश्चित रूप से आज भी प्रामाणिक हैं। मुझे दूसरी तरह से कहने दें। मेरी एक निष्पक्ष उदार दृष्टि है मुझे भरोसा है कि वहाँ सभी प्रकार के विचारों के लिए जगह है। यदि उनकी फिल्म नागर मध्य वर्गीय संवेदेनशीलता के नजरिये को स्थापित करती है तो मुझे उससे कोई आपत्ति नहीं है। इसमें प्रामाणिकता है। जब आप कहते हैं कि उनके पास नागर मध्य वर्गीय नजरिया था तो मेरे लिए यह एक निन्दात्मक शब्द नहीं है। मेरे लिए ईमानदारी के साथ अपनी स्थिति में समस्याओं को देखने का एक तरीका है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। मैं महसूस करता हूँ कि उन सभी विचारों में एक बड़ी प्रामाणिकता है जो अपने दृष्टिकोण से प्रक्षेपित किये जा रहे हैं जो कलाकार अपने जीवन में अधिगृहित नहीं कर पाया है। यह असत्य होगा और इसीलिए यह सत्य की ध्वनि नहीं दे सकता, मैं महसूस करता हूँ कि बिमल रॉय एक निश्चित प्रामाणिक स्थिति रखते थे। मुझे बताने दीजिए उस वक्त के बारे में जब ऋत्विक घटक बम्बई आते थे। मैं उनसे मिला। उन्होंने **मधुमती** का एक ड्राफ्ट लिखा। वे अक्सर पीये हुए होते थे। कोई नहीं जानता था कि उन्होंने कितना लिखा है, या कितना, वे जो कह रहे हैं सच है। यह बहुत मुश्किल था कि जो वे कह रहे हैं उसका भरोसा किया जा सके। किसी प्रकार मैं उनसे मिला और द आनंदम् फिल्म सोसायटी पत्रिका के लिए नितिन सेठी के साथ उनसे काफी लम्बी बातचीत की। मुझे याद है कि घटक काफी पीये हुए थे और यहाँ वे आपके पिता पर टिप्पणी करते हुए कह रहे थे "ओह, बिमल रॉय ने खुद के साथ समझौता कर लिया है। उन्होंने यह कहा है, वह कहा है, आदि आदि।

घटक संभवतः हितेन चौधरी के यहाँ रुकते थे या फिर अभिनेता अभिभट्टाचार्य के घर पर। यही दो जगह थी। एक रात वे काफी पीये हुए थे और बिमल रॉय पर टीका टिप्पणी कर रहे थे और इन दोनों में से कोई एक या तो अभिभट्टाचार्य या हितेन चौधरी थे जिन्होंने घटक से कहा, "तुम यह सब कह रहे हो भाब (घटक का घरेलू नाम) लेकिन तुम बिमल रॉय के पास जाओगे हाथ फैलाकर। और, और अधिक पीने के लिए पैसा लोगे।" वे उस आदमी के बारे में यह सब कह रहे थे जो उन्हें खिला रहा था। और मुझे यह संवाद अच्छे से याद है। यह दिलचस्प संवाद था क्योंकि उसमें बिमल रॉय के बारे में कुछ कहा गया था। बिमल रॉय

इस तरह के आदमी थे......

हाँ, किसी से सुना है कि ऋत्विक घटक यह दावा करते रहे हैं कि उन्होंने बिमल रॉय प्रोडक्शन को इस प्रेत कथा 'मधुमती' के जरिये पुर्नजीवन दिया है और बिमल रॉय जैसे एक पूँजीपति को हटाना है।

हाँ, इसी तरह का कुछ। मुझे नहीं लगता, यहाँ मैं भरोसा नहीं कर सकता एक क्षण के लिए भी कि बिमल रॉय किसी तरह से पूँजीपति थे।

वास्तव में यह एक चैनल चार की बिमल रॉय के काम पर आधारित डाक्यूमेंट्री का एक दूसरा अतिरंजित दिलचस्प पहलू है। अपने वर्ग को हास्यापद बनाने का आप जानते ही हैं कि वे खुद जमींदारी से आये थे। लेकिन उनकी फिल्मों में जमींदारी के विरुद्ध मजबूत पक्ष लिया गया। जैसा कि आपकी 'अंकुर' में है।

उन्होंने यह कहा और बार बार कहा कि 'दो बीघा जमीन', 'देवदास' आदि में। उनकी पहली फिल्म 'उद्दयेर पाथे' पूँजीवादी शोषकों के खिलाफ है। उनकी कृतियों में अधिकांशतः मालिक वर्ग, उच्च वर्ग और समाज के स्थापित वर्ग का नैतिक चित्रण है।

देखिये मैंने उनकी सभी फिल्में नहीं देखी है उनका बंगाली अध्याय मेरे लिए अनजाना है। अब मैं देखना चाहता हूँ कैसे मैं पुणे स्थित संस्थान में फिर से जाऊँगा। मेरे फिल्म अध्ययन में कुछ एक कमियाँ खटकती रहेंगी।

बिमल रॉय के खिलाफ घटक का यह आरोप कि उन्होंने समझौता कर लिया था। उनके काम की आलोचना का काफी बड़ा हिस्सा है। उन्हें आलोचकों ने कभी प्रगतिशील के रूप में स्वीकार नहीं किया। इस पक्ष के बारे में आपकी क्या राय है?

मैं आपको कह सकता हूँ कि उस आक्षेप के पीछे क्या बात रही है जैसा कि पहले ही कहा है उनका एक निश्चित नजरिया था-एक उदार नजरिया-उस उदार नजरिये की चौथे दशक के बाद भारत में जब यहाँ वातावरण अधिक क्रांतिकारी था-इस प्रकार के क्रांतिकारी नजरिये के संप्रेषण की शुरूआत चित्रकला या अन्य कला रूपों में हुई थी। फिर भी हमें अत्यधिक क्रांतिकारी फिल्में देखने को नहीं मिलतीं। पर समूचा आलोचकीय वातावरण आजादी के वक्त और उसके ठीक बाद के वक्त में

अत्यधिक क्रांतिकारिता में बदलना शुरू हो रहा था और जिनके सामान्यतः उदार नजरिये थे , जिनमें फिल्मकार भी शामिल थे यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि यह नजरिया 'अधिक दूर तक' नहीं जा पायेगा। जो घटित हुआ है वास्तव में वह यह है। यदि आलोचकों ने बिमल रॉय के शब्दों के बारे में कहना शुरू कर दिया तो इस प्रकार के अहसास का कारण था-उन जैसे लोगों का जो काफी दूर तक नहीं जा सके थे।

पश्च-दृष्टि के नजरिये से कम से कम आप यह देखते है कि बिमल रॉय का दृष्टिकोण अब भी प्रामाणिक है। वे एक निश्चित रूप में आविष्कृत नागर-मध्य-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे । या जिसे मैं कहता हूँ कि मध्य-वर्ग बुद्धिजीवी का आविष्कार। उन्होंने नागर बुद्धिजीवी नजरिये का और दुनिया को वे जिस तरह देखते हैं, उसका प्रतिनिधित्व किया। वैसे यह हम लोगों के लिए इतिहास के अनुसार काफी महत्वपूर्ण है कि कैसे वे आविष्कृत हुए और पाँचवें-छठे दशक के क्रांतिकारितावाद और कैसे उस तरह के क्रांतिवारी विचार विकसित हुए। प्रसंगवश् केवल सातवें दशक में ही एक निश्चित तरह की पारदर्शिता थी लेकिन यह पाँचवे दशक की फिल्म में स्वतः स्पष्ट नहीं है-यदि वह है भी तो अत्यंत कम। अपवाद स्वरूप मृणाल सेन और ऋत्विक घटक जो कि बंगाल में थे , अपनी कुछेक फिल्मों के जरिये कुछ हद तक क्रांतिकारी विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सत्यजीत राय के कार्य में जरूर एक विशेष संयोजन और उदारता की दुनिया देखने को मिलती है। बिमल रॉय की तुलना में रॉय इसे कहीं अधिक पारदर्शिता के साथ परिभाषित कर रहे थे क्योंकि बिमल रॉय बंगाल में नहीं बम्बई में थे। बिमल रॉय के आसपास का वातावरण उन्हें कोई वास्तविक मदद नहीं कर रहा था और न ही उन्हें पोषित ही कर रहा था। वे बम्बई के वातावरण में कुछ प्रतिक्रिया ही नहीं कर पा रहे थे , इस तरह के वातावरण में वे काम कर रहे थे । उन्होंने कोशिश की कि यहाँ वे अधिक से अधिक एकांतिक हो जाएँ और जहाँ तक विषय सामग्री की बात है, बिमल रॉय ने उसे बंगाली साहित्य या बंगाल से ग्रहण किया। गुरुदत्त ने भी बहुताधिक यही कुछ किया। उन्होंने विषय सामग्री बंगाल से ली जबकि वे वहाँ काम नहीं कर पा रहे थे लेकिन अपने आरंभिक वर्ष वहाँ जरूर गुजारे थे। गुरुदत्त भी बम्बई की तुलना में वहाँ सहज ही शक्ति का अनुभव करते थे । उदाहरण के लिए **प्यासा** को लें या **साहब, बीवी और गुलाम** को लें। ये फिल्में आप पायेंगे कि बम्बई की बनिस्वत बंगाली मिजाज का कहीं अधिक प्रतिनिधित्व करती हैं-बिमल रॉय की कृतियों को छोड़कर।

बिमल रॉय और गुरुदत्त के प्रकरण में वह क्या चीज आकर्षित करती थी और विषय चुनने की सीमाओं के बारे में भी थे जिसमें वे भरोसा करते थे। सामाजिक तत्व रच पाना और दर्शक के साथ सम्बन्ध बना पाना...... उनके कैरियर के अंतिम दिनों में अत्यंत मुश्किल हो गया था। प्रसंगवश् इससे काम में विभ्रम और एक निजी अलगाव पैदा हो गया?

मैं कल्पना करता हूँ कि यह मुश्किल था और जिसमें वे भरोसा करते थे उस तरह की फिल्में बनाने में आसानी कम से कम होती गयी। जैसा कि आपने कहा यह संघर्ष अपरिहार्य था। उस अर्थ में मुझे लगता है कि बिमल रॉय का विभ्रम गुरुदत्त के बिल्कुल करीब है। वे कभी निश्चित नहीं थे कि वे अपनी अगली फिल्म में क्या बनाने जा रहे हैं थे और जो आगे बनाने जा रहे थे उसको लेकर वे उत्तेजित होते थे या नहीं यह सभी फिल्मकारों के बाबत् सच है.....

कई बार यह विभ्रम विकल्प की ओर ले जाता है उदाहरण के लिए बिमल रॉय फिल्म के अंत के अक्सर दो संस्करण फिल्मांकित करते थे। दो बीघा जमीन कलकत्ता में जारी हुई तो उसमें शंभु की गर्भवती पत्नी पारो (निरूपारॉय) अपने पति और बच्चे की खोज में आती है और सड़क दुर्घटना में मर जाती है लेकिन दर्शक इस तरह की रुग्णता को स्वीकार नहीं कर पाते, जहाँ मनुष्य सब कुछ हार गया हैथेऔर उन्हें इस अंत को बदलना पड़ा जिसमें शंभु अपना हाथ खो देता है लेकिन संघर्ष के लिए अपनी पत्नी और बच्चे के साथ जीवित भी रह जाता है।

नकारात्मक अंत और आशावादी अंत।

निराशावादी अंत किंचित् आशावाद से बदल दिया गया। उसी समय एक अन्य निर्देशक थे जिन्होंने बहुत ही श्रेष्ठ फिल्म **छिन्न मूल** बनाई, ये थे निमाई घोष-लेकिन वे कोई दूसरी फिल्म नहीं बना सके और मैंने सुना है कि हाल ही में उनका देहांत हुआ। लेकिन ये चीजें होती हैं और अनेक लोगों के साथ होती हैं... आप धारा के साथ बह रहे हैं तो आपको खुद अपनी धड़कनों से अलविदा कहना पड़ेगा, उनसे झूठा बनना पड़ेगा। यदि आप किसी कला सिनेमा, चित्रांकन या किसी से भी जुड़े हैं, यदि आप धारा के साथ जाना चाहते हैं तो आपको अपनी सारी रचनात्मक ऊर्जा देना पड़ेगी। यदि वह इस गलती का हिस्सा नहीं बनते तो फिर दूसरे का।

बिमल रॉय सचेत रूप से अपने समय में नयी जमीन तोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे जब सारी चीजें स्टूडियो में उत्पादित की जाती थीं तब

उन्होंने स्टूडियो के बाहर फिल्मांकन आरम्भ किया और अपने विषयों को उनके परिवेश में ग्रहण करने की कोशिश की।

याद कीजिये उन दिनों बाहर फिल्मांकन करना अत्यंत मुश्किल था, कैमरे काफी बड़े ... दुर्वहिनीय और दुष्परिचालनीय। फिल्म बहुत धीमी होती थी, मुझे याद है उन्होंने किशोर कुमार के साथ **नौकरी** नामक फिल्म फिल्मांकित की थी। फिल्मांकन उन्होंने बम्बई और कलकत्ता में किया। उसमें एक दृश्य है, किशोर कुमार जब हार्बनी रोड से नीचे आ रहे हैं...... उन्होंने इसका फिल्मांकन तब किया जब वहाँ काफी लोग न हों। जब आप उसे देखते हैं तो आप कहेंगे कि 'बम्बई कभी इस तरह का दिखाई नहीं दिया।'

उपकरणों की ये समस्याएँ थीं लोगों की भीड़ आपको घेरे रहती, जब कैमरा सरल बना तब कहीं जाकर वह अधिक घूमन्तु हो सका। आप कैमरा छिपा सकते हैं...... बहुत सी चीजें धीमी फिल्म की तरह, भारी उपकरणों ने भी फिल्मों के बाहर फिल्मांकन पर काफी दबाव डाला और डबिंग भी थे उन दिनों फिल्मों में सिंक साउण्ड नहीं था। उस वक्त डायरेक्शन माइक जैसी कोई चीज नहीं थी। आजकल उपकरणों की मुश्किलों को काफी कम कर दिया है लेकिन मैं महसूस करता हूँ कि आज भी-लोग जैसे स्टूडियो में शूट करते हैं वैसे ही आउटडोर पर। जब वे वास्तविक लोकेशन पर फिल्मांकन करते हैं तब भी वे प्रकाश के साथ स्वेच्छाचारिता करते हैं...... स्टूडियो की गुणवत्ता के साथ ही ध्वनि का उपयोग भी होताहै।

क्या आप बिमल रॉय की शैली पर कोई निर्णयात्मक टिप्पणी कर सकते हैं?

जैसा कि मैंने पहले कहा है मैं उनकी कृतियाँ विशेष अर्थों में मानता हूँ। बिमल रॉय के कलात्मक अवदान की तीन बड़ी विशेषताएँ हैं, बिमल रॉय ने यथार्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ा-उन्होंने प्रकाश के स्रोत का उपयोग करते हुए प्रकाश और टैक्सचर के अर्थों में कैमरे की बुनियाद को लेते हुए यह सम्बन्ध जोड़ा। उन्होंने जीवन से सुप्रतिष्ठित ढंग से दिक् और काल के क्रम को स्थापित किया। उनके विचार बहुत ही सुस्पष्ट रूप से उदार थे। नागर मध्य-वर्ग की सहानुभूति सामाजिक विसंगतियाँ, अन्याय के साथ जो उन्होंने अपने आसपास देखा। तीसरे, बिमल रॉय में विषयों का चयन सामाजिक नैतिकता के विचार पर आधारित था। जो कुछ गलत है उसमें सुधार की आवश्यकता का विचार, उस अर्थ में वहाँ एक पुनरूत्थानवादी संवेदना थी। इन तीनों चीजों के साथ ही यह भी तथ्य था

कि वे एक उत्कृष्ट टेक्नीशियन थे। उन्होंने अपनी फिल्म को बहुत ही सौन्दर्यपरक ढंग से फिल्मांकित किया और उनका समापन भी बेहतर था। उन्होंने अपने बिम्बों को पूर्णता दी और वे बहुत ही दिलचस्प प्रस्तुतियाँ रच पाये क्योंकि उन्होंने अभिनय की जिस शैली का उपयोग किया यह स्वतः स्फूर्त थी न कि किसी अन्य परम्परा से आयी हुई। जैसे कि रंगमंच या हिन्दी सिनेमा में प्रचलित किसी विशेष से, उनसे वे बचते रहे, सिर्फ अपनी आरंभिक बंगाली फिल्मों को छोड़कर इससे उनकी फिल्में वास्तव में सर्वथा अलग है, अन्य तमाम लोगों के काम की तुलना में। ये पक्ष उन्हें विशेषता प्रदान करते हैं और उन्हें एक लेखक की मोहर भी प्रदान करते हैं। इन गुणवेत्ताओं में ही आप महसूस कर सकते हैं कि ये बिमल रॉय की फिल्म हैं चाहे वहाँ कोई शीर्षक न भी हो। अंततः वे परम्परा के भीतर एक फिल्मकार थे परम्परा से बाहर नहीं, जैसे कि सत्यजीत रॉय हैं। सत्यजीत रॉय भारतीय सिनेमा की परम्परा से बाहर के फिल्मकार हैं मुझे अपनी बात यूँ कहने दें-बिमल रॉय इंद्रधनुष के संवेदनशील छोर

पारंपरिक सिनेमा के इंद्रधनुष। बिल्कुल संवेदित छोर पर आखिरी वर्षों में गुरुदत्त की तरह या कुछ हद तक मेहबूब खान की आरंभिक फिल्मों की तरह। जब मैं आरंभिक मेहबूब की बात करता हूँ तो मेरा मतलब चौथे दशक की फिल्मों, जैसे **रोटी** से है न कि पाँचवे दशक से।

इस तरह की संवेदना से बिमल रॉय सम्बद्ध थे, उन्होंने वह स्थिति अर्जित की। कुछ हद तक बिमल रॉय बरूआ से भी प्रभावित थे -मैं नहीं जानता पर यह ऐसा लगता है। पी .सी . बरूआ में जो विशेष संवेदना थी वह पूर्व और पश्चिम की सायुज्य आकर्षक मिश्रण थी। दो संस्कृतियों सम्मिश्रण का बेहतर ढंग से बरूआ की फिल्मों में है-पश्चिमी दृष्टिकोण के साथ पूर्व की धर्मनिरपेक्षता का एक आकर्षक सायुज्य हैं वे। बिमल रॉय की फिल्में निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्ष हैं। जब कहते हैं तो मेरा मतलब है कि वहाँ किसी प्रकार की धार्मिक धड़कन गतिशील नहीं है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के नव-जागरण विचार है जिससे धर्मनिरपेक्ष विचारों को पारिभाषित करना शुरू हुआ बनिस्बतन संकीर्ण रूढ़िवादिता के-या उस उदार क्रांतिकारी विचार के बंगाल या अन्यत्र में उभरने के पहले जो सोचा जा रहा था उस पर तीखी टिप्पणी करने का।

भारतीय सिनेमा में बिमल रॉय की जो स्थिति है वह उदार क्रांतिकारी, सामाजिक विसंगतियों के मुद्दों के प्रति चिंतित और उनके काम में यह लगाव स्पष्ट दिखता है।

(**श्याम बेनेगल** और **रिकी भट्टाचार्य** की बातचीत पर आधारित)

भारतीय सिनेमा में बिमल रॉय युग

देवदास उस महान् फिल्म का नाम है जो आज से तीन दशक पहले बनाई गयी थी। किन्तु भारतीय सिनेमा के विद्यार्थियों के लिए वह ऐसा शीर्षक भी है जो दूसरों की अपेक्षा एक जादू का सा संस्पर्श देता है। और इसके एकाधिक कारण है।

देवदास शरत्चंद चटर्जी के लोकप्रिय बंगाली उपन्यास पर आधारित ऐसी फिल्म है जिसने भारतीय सामाजिक फिल्मों के समग्र दृष्टिकोण में क्रांति की और जिससे भारतीय फिल्मों में प्राब्ध-प्रेरित नायक के युग का आविर्भाव हुआ। उसे इस बात का गौरव था कि वह पहले मूलतः बंगाली भाषा में बनाई गयी और उसी समय हिन्दी और तमिल भाषाओं में उसका निर्माण हुआ और दो दशकों के बाद फिर हिन्दी में उसे फिल्माया गया। मूल बंगाली संस्करण के निर्देशक पी.सी. बरुआ को, जिन्होंने इसमें नायक की भूमिका निभाई थी इससे बहुत ख्याति मिली थी जो बाद के वर्षों में अन्य कलाकारों के हिस्से में भी

आयी थी। इसके पहले हिन्दी संस्करण के नायक की कुंदनलाल सहगल द्वारा गाए गए गीतों को अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली थी और आज भी भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका की रेडियो पर उसके गीत गूँजते रहते हैं। इसके परवर्ती हिन्दी संस्करण ने कलाकार जोड़ी दिलीपकुमार और वैजयंतीमाला को अधिकाधिक ख्याति प्रदान की।

देवदास में ही जब बंगाली भाषा में उसका निर्माण हुआ उसके छायाकार (कैमरामैन) की प्रतिभा का श्रेष्ठ परिचय दिया और दूसरे संस्करण में जिसका निर्माण और निर्देशन उसी छायाकार ने किया, उसकी प्रतिभा में और निखार आया। इस छायाकार का ही नाम है- बिमल रॉय।

यह समय बहुत अनुकूल था। न्यू थियेटर्स के रूप में उसकी प्रतिभा के विकास के लिए असीम संभावनाएँ विद्यमान थीं। भारतीय सवाक चलचित्र का वह आरंभिक काल था और ऐसे दौर में ही न्यू थियेटर्स ने कुछ बहुमान्य क्लैसिक कृतियों पर अपनी फिल्में बनाई। निर्देशक श्री नितिन बोस के साथ आरंभिक ट्रेनिंग लेने के पश्चात् ढाका में जन्मे युवा बिमल रॉय को १९३४ में **डाकू मंसूर** के छायाकार की जिम्मेदारी सौंपी गयी। एक साल के ही बाद उन्हें **देवदास** की फोटोग्रॉफी का दायित्व सौंपा गया, फिर क्रमशः **मंजिल** और **माया** की फोटोग्राफी उन्होंने १९३६ में की और १९३७ में उन्होंने स्मरणीय फिल्म **मुक्ति** का निर्माण किया। आसाम के जंगलों में इस फिल्म की नयनाभिराम दृश्य फोटोग्रॉफी ने उन्हें नई प्रसिद्धि दी थी।

इसके बाद उन्हें और कठिन और चुनौतिपूर्ण भूमिकाएँ मिलीं जो उनकी प्रौढ़ता के वर्ष थे १९३८ में **अभागिन** १९३९ में **बड़ी दीदी** **१९४० में हारजीत** और १९४२ में **मीनाक्षी** इन सब के द्वारा एक श्रेष्ठ कैमरामेन का निर्माण और विकास हो रहा था।

प्रतिभा खोजने की पारखी आँख वाले न्यू थियेटर्स के मालिक बी एन . सरकार ने अपने इस प्रतिभाशाली छायाचित्रकार को १९४४ में **उदयेर पा थे** का निर्देशन कार्य सौंपा। बंगाली दृश्यपट पर उसकी सफलता से उसके हिंदी संस्करण हमराही की प्रेरणा मिली। श्रम और पूँजी के संघर्ष की गाथा पर आधारित वह हिंदी की पहली फिल्म थी जिससे यह अवधारणा पुष्ट हुई कि सामाजिक वृत्तचित्र के रूप में फिल्म की उपयोगी भूमिका है। यह पहला अवसर था जब फिल्म स्टूडयो की वास्तविकता का परित्याग कर खुली सड़कों–गलियों में फिल्म ने अपने समय के सामाजिक

यथार्थ को आत्मसात् किया। यद्यपि इस यथार्थवादी फिल्म का निर्मा
१९४५ में हुआ था किंतु वास्तव में वह अपने समय से काफी आगे फि
थी। संयोगवश यही पहली फिल्म थी जिसने जन-गण-मन गीत क
उपयोग किया जो बाद में हमारा राष्ट्रगीत बना।

किंतु यह समझने के लिए कि कैसे अपनी पहली फिल्म से ही बिम
रॉय ने भारतीय फिल्मों की दुनिया की नींव हिला दी, ह
युद्धोत्तरकालीन भारत की पृष्ठभूमि को समझना होगा जिसकी व्याप
व्यावसायिकता की घास-फूस ने इस उद्योग के स्वस्थ विकास में अवरो
पैदा करने की क्षमता में वृद्धि के परिणाम स्वरूप फिल्मोद्योग
तात्कालिक सस्ते मनोरंजन से युक्त फिल्मों की पूर्ति के अवसर दिये।
फिल्में कृत्रिम भावुकता, निष्फल प्रेम, मिथ्या धर्माख्यानों और इतिहा
के स्थान पर किवदंतियों की पूर्ति भर करती थीं जिनमें किसी प्रकार क
प्रामाणिकता का गुण नहीं था। लखनऊ विश्वविद्यालय के ए
समाजशास्त्री ने इस काल में जारी ६० फीचर फिल्मों की सामग्री क
विश्लेषण किया है। उन्होंने पाया कि इन फिल्मों का मुख्य कार्य-विष
उच्च और मध्यम वर्गों के उन युवाओं के क्रियाकलापों से संबंधित था ज
शहरों में रह रहे थे । इनमें से लगभग आधी फिल्मो में नायकों के पा
कोई काम नहीं था यानी वे बेकार थे और लगभग दो तिहाई फिल्मों
नायिकाओं के पास कोई काम नहीं था। अधिकांश फिल्मों में किसी
सामायिक समस्या के कारण रूकावटें नहीं पैदा होती थी वरन् किसी
बदमाश पात्र के द्वारा ऐसे अवरोध खड़े किए जाते थे । अधिकांश फिल्मो
में एक कुटिल पुरुष मात्र हुआ करता था और लगभग आधी फिल्मों मे
कुटिल नारी पात्र हुंआ करते थे । प्रत्येक फिल्म में औसतन लगभग ७-
गीत हुआ करते थे और ७० प्रतिशत मामलों में नायक ही गीत गाते थे ।
इनमें २३.३ प्रतिशत में नायिकाएँ गीत गातीं थी किंतु नृत्य नहीं करती
थीं। ७० प्रतिशत फिल्मों में नायिकाएँ गातीं थी और नृत्य करती थीं।
प्राय: आधी फिल्मों में नायक अकेला रहता था पर एक तिहाई में वह
परिवार में रहता था। नायिका साधारणत: परिवार में रिहती थी।
कदाचित् ही नायक या नायिका किसी संयुक्त परिवार में रहते थे ।

(**इंडियन फिल्म** में एरिक बर्नो और एस .कृष्णास्वामी द्वारा
स्टेट्समैन की रिपोर्ट से उद्घृत १२ दिसंबर १९५९)

न्यू थियेटर्स द्वारा निर्मित दो अन्य फिल्मों **अजानगढ़** और **पहला
आदमी** (जिसमें सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का

गुणगान किया गया है।) के बाद बिमल रॉय फिल्मों की राजधानी बंबई आ गए। लगभग इसी समय १९५३ में उन्होंने दो फिल्में बनाई पहली फिल्म माँ उन्होंने बॉम्बे टॉकीज के लिए बनाई थी जो आज लगभग विस्मृत सी है। किंतु दूसरी फिल्म जो उन्होंने स्वयं अपने प्रतीक चिन्ह के अंतर्गत बनाई वह थी **दो बीघा जमीन** जो **हमराही** की परंपरा में एक अग्रगामी साहसिक कदम का संकेत था। इसमें एक बंगाली किसान की संघर्ष की कहानी है जो अपनी दो एकड़ जमीन की रक्षा करने के लिए तत्पर है जिस पर वह और उसका परिवारआश्रित है। अकालग्रस्त अपनी जमीन को बचाने के लिए वह महानगर कलकत्ता चला जाता है जहाँ वह रिक्शा खींचकर अपनी रोजी कमाता है। रूपया कमाकर जब वह वापिस लौटता है तो देखता है कि उसकी जमीन पर एक कारखाना बन रहा है।

यहाँ फिर **हमराही** की भाँति एक नई नाटकीय स्थिति है- शहरों की ओर जाती हुई आबादी जिसे बिलकुल नए ढंग से दर्शाया गया है। **दो बीघा जमीन** भारतीय किसान समाज का सबसे मानवीय चित्रण प्रस्तुत करता है जिसकी तुलना केवल मेहबूब की फिल्म **मदर इंडिया** से की जा सकती है। वह न केवल एक सजग कलाकार की नैतिकता प्रकट करती है वरन इसके द्वारा एक कलाकार यह प्रयास भी करता है कि समाज में नैतिक ईमानदारी जगाई जाए और इसके नए साधन सरलता और सादगी है। यह एक सीधी-सादी कम बजट की फिल्म थी जिसमें प्राय: इतालवी नव-यथार्थवाद का प्रवाश दिखता है। बिमल रॉय से एक बार पूछा गया था कि क्या इस फिल्म के निर्माण के पीछे वे **बायसिकल थीव्ज** प्रभावित हुए हैं जो फिछले साल ही भारत में प्रदर्शन के लिए जारी की गयी थी। उनका सारगर्भित उत्तर था "शायद कथा लेखक से न कि निर्देशक से।" यह उचित ही है कि अपनी आंतरिक श्रेष्ठता, सच्ची भारतीयता के ही कारण इस फिल्म ने केन्द्र के अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव, रूस और अन्य देशों में बड़ी प्रशंसा प्राप्त की।

बिमल रॉय की बाद की फिल्मों ने रचनात्मकता का नया प्रमाण दिया जिनमें वैविध्य भी था और ऊर्जा भी। **बाप बेटी** में बालमन की खोज की गई। **बिराज बहू** में एक आदर्श दंपत्ति की संघर्ष गाथा है जो भाग्य से प्रताड़ित है। **नौकरी** में एक युवा मनुष्य की कथा है जिसमें जीवन के वास्तविक दृश्यों और जीवन की विडम्बनाओं को कुशलता से उकेरा गया है। कथा नायक नौकरी की निरंतर तलाश में रहता है और

प्रायः उसे 'कोई जगह नहीं', 'कोई जगह नहीं' की ही स्थिति का सामना करना पड़ता है।

इस नीरस स्थिति के कारण उसके प्रेम का उत्साह सामाजिक व्यंग्य के बतौर फिल्म का प्रभाव क्षीण करता है और अभाववश अपनी प्रेयसी से विवाह न कर पा सकने की असमर्थता केवल हँसी पैदा करती है। **परिणीता** भारतीय नारियों के लिए एक आव्हान माना गया है जो नारी हृदय की थाह पाने की कोशिश है। इसमें गुड़ियों के विवाह का दृश्य निश्चय ही अविस्मरणीय है।

परिणीता भी शरत्‌बाबू की क्लैसिक कृति से ली गई है। बिमल रॉय ने स्वयं कहा था इसके बनाने के पीछे उचित आधार है। शरत् बाबू की प्रत्येक कथा में श्रेष्ठ कथानक आधार है, सम्यक चरित्र-चित्रण है वास्तविक किंतु नाटकीय स्थितियाँ हैं और सधे हुए संवाद हैं- इनका समूचा प्रभाव मानव मन पर अमिट और गहरी छाप छोड़ता है। ये सभी महत्वपूर्ण बातें हैं जो फिल्म निर्माता के लिए अच्छी सामग्री प्रस्तुत करती है। बिमल रॉय के अपने शब्दों के प्रकाश में यह विचित्र लगता है कि उन्होंने कथा के सामाजिक प्रयोजनों को इतने मंद स्वरों में अंकित किया जिसने बंगाल के रुढ़िग्रस्त समाज में भीषण हलचल पैदा कर दी थी। शरत् बाबू के प्रेमी इस बात पर सहमत हैं कि बिमल रॉय ने शरत् बाबू की तात्विक बनावट से उसके मूल स्वर से हटकर उसकी क्रांतिकारी और परम् महत्व की चीजों को अपनी फिल्म कथाओं में जोड़ा। वह परिणीता का श्रेष्ठतम् प्रदर्शन और चरित्र है जिसमें अशोक कुमार और मीनाकुमारी ने उत्तम अभिनय करके उसे नए कीर्तिशिखर पर पहुँचा दिया है।

इसी प्रकार देवदास के संबंध में भी कहा जा सकता है। यहाँ फिर शरत् बाबू की क्लैसिक कृति के सामाजिक इंगित जो बरुआ के समय में वैध थे , समय बीतने के साथ ही समकालीन अनुभवों के संदर्भ में निष्प्रयोजन से प्रतीत होने लगे थे , उनकी अपील भी समाप्त हो चुकी थी किंतु एक जमींदार के पुत्र का पडौसी की गरीब कन्या से प्रेम निश्चय ही सिनेमा के लिए उत्तम सामग्री का आधार बन जाता है।

फिल्मफेयर के लिए एक इंटरव्यू तारीख १६ मार्च १९५६ बिमल रॉय की **देवदास** में उसके सामाजिक महत्व के संदर्भ में जो कभी है उसकी पूर्ति असाधारण रूप से उसके मानवीय प्रभाव में हो जाती है। एक

निरुद्देश्य व्यक्ति के रूप में जो जीवन की बाजी हार जाता है, जो प्रेम करता है किंतु उसमें असफल हो जाने पर शराब में अपना गम भूलने की कोशिश करता है और अपरिचित नारियों के प्रलोभनों में व्यस्त रहता है-इस सबकी एक दुखद परिणति होती है किंतु विनाश की ओर अग्रसर ऐसी स्थिति में भी वह अपना प्रथम और केवल वास्तविक प्रेम की स्मृति नहीं करता। यद्यपि अपने विकास क्रम पें इसकी गति किंचित मंथर है पर विमल रॉय की फिल्म उसके क्षिप्र संपादन और दो गीतों को हटाकर बच्चों के गीत और घुमक्कड़ चारण के भावुकतापूर्ण गीत को निकाल कर विमल रॉय ने उसकी गति और नाटकीय प्रभाव कायम रखने में सफलता पायी इस कथा पर एक निराशाजन्य अवसाद छाया रहता है। उसका भावपूर्ण मौन देवदास के जीवन में रीतेपन को मुखरित करता प्रतीत होता है जैसे कि शांत विजली का गर्जन हो। बिमल रॉय ने इस कथा को इतनी भावजन्य तीव्रता और आव्हान मूलक क्षमता से भर दिया है कि देवदास के साथ ही हम भी व्याकुल हैं और उसके साथ ही हमारा भी एक अंग मर जाता है।

देवदास का आव्हान भारतीय सिनेमा के लिए बहुत व्यापक और गंभीर है।

अब उस महान् फिल्म निर्माता में फिर एक परिवर्तन आता है। जिस प्रकार देवदास में उसने पीड़ा की तलस्पर्शी गहराई की अनुभूति की थी उसी प्रकार **मधुमती** में दुर्भाग्यवश और साधारण तौर पर उन्होंने प्रचलित रिवाज से समझौता किया जो सितारों के बंबई फार्मूला के अनुसार होता था। जिसमें उनके हिसाब से गीतों और कथा का निर्माण किया जाता था। यह एकांगी प्रणय की गाथा है जिसे श्रेष्ठ कलात्मकता के बावजूद परिपूर्णता तक नहीं पहुँचाया जा सका। पुनर्जन्म का रहस्य जिसमें प्रेमी के समक्ष दो लड़कियाँ रहती है एक प्रेत और ये तीनों एक समान ही दिखते हैं, खुलता नहीं है। किंतु गाँव का नयनाभिराम वातावरण, मोहक मेला दृश्य, मुग्ध करने वाला संगीत और रंगबिरंगे लोक नृत्य आँख और कान के लिए भले प्रतीत होते हैं।

क्रमशः विमल रॉय का कवि और चित्रकार उनके दार्शनिक और समाज सुधारक के ऊपर विजय प्राप्त करता है और वे एकाधिक चलचित्रों का निर्माण करते हैं जिनमें सुमधुर गीतों का पुट है। **सुजाता, परख** और **बंदिनी** ऐसे ही चित्र हैं। एक अछूत लड़की सुजाता और ब्राम्हण परिवार के मुखिया के पुत्र की यह प्रणय गाथा बड़ी कुशलता, संयम के माध्यम से उकेरी गई है जिसमें आत्महीनता का कोई भाव नहीं

होता जिसके कारण हिन्दी चलचित्रों की ऐसी अन्य सिने-कथाओं को क्षति पहुँची है। इनमें गीतों का भी उपयोग किया गया है किंतु अधिकांशतः पृष्ठभूमि के प्रभाव के रूप में उसका उपयोग किया गया है। **परख** हमें सुप्रसिद्ध कथा शिल्पी मार्कट्वेन की याद दिलाती है। यह उत्तम किस्म की रोचक व्यंग्य कथा है जिसमें दिखाया गया है कि पैसे का लोभ मनुष्य को कितना बदल देता है, बिमल रॉय इस व्यंग्य को श्रेष्ठ स्तर पर बनाए रखते हैं और उसे भंडैती और मसखरेपन से बचाए रख पाते हैं जो वह कुशल हाथों के स्थान पर दूसरों की अकुशलता के कारण बन जाती है।

कुछ कला समीक्षक ऐसे भी हैं जो **बंदिनी** को उसकी आतंकजन्य पृष्ठभूमि के बावजूद नाटकीय दृष्टि से स्फूर्तिहीन मानते हैं। निःसंदेह यह फिल्म नाटकीय ऊँचाइयों तक भी जाती है जैसा कि भावावेग की दशा में नायिका के प्रकोप में दिखता है। यह नायिका एक ग्राम्य पोस्टमास्टर की लड़की है। घटनाक्रम के कारण वह उस व्यक्ति की दूसरी पत्नी की हत्या कर देती है जिसे वह अपना पति मानती है। अपनी जटिल किन्तु प्रेरक प्रकाश और छाया की सहायता से बंदिनी चित्तदशाओं और वातावरण को बिलकुल साकार कर देती है इसीलिए **बंदिनी** सिनेमा के विद्यार्थियों के लिए आज भी फिल्म कौशाल का एक जादुई उदाहरण है।

इसी प्रकार **प्रेमथेपत्र** की भी अपनी विशेषताएँ हैं। इसमें छद्म नाम से प्रेम-पत्र लिखने वाले लेखक की मनमोहक घटना-कथा है जो स्वयं पत्र पाने वालों से प्यार करने लगता है। किंतु श्रेष्ठ निर्देशन, निष्ठापूर्ण अभिनय, श्रेष्ठ फोटोग्राफी और कुछ अच्छे हास-परिहास के अवसर और एक दो अच्छे गीतों की सहायता से फिल्म की आंतरिक कमजोरियों को दूर किया जा सकता है। उसकी पटकथा में प्रेरकता की कमी के फलस्वरूप इसमें कोई 'संस्पेंस' नहीं है। हमें शुरू में ही उसके मध्यभाग का पता चल जाता है और बीच में उसके अंत का ज्ञान हो जाता है। एक होनहार युवा डॉक्टर की आँखों की रोशनी चली जाती है। जो सुंदर लड़की उससे प्रेम करती है वह उसे अपना हृदय सौंप देती है और हजारों फुट की सैल्यूलाइड फिल्म में इसे दिखाया जाता है किंतु हम फिर भी तटस्थ और निरपेक्ष भाव से उसे देखते रहते हैं। इस प्रकार यह फिल्म एक विचार की हत्या कर देती है और फिर उसकी चिता सजाने का उपक्रम करती है।

किंतु हास के इस काल में भी हम यह मससूस करते हैं कि बिमल रॉय को बॉक्स ऑफिस की सफलता के लिए अपनी आत्मा को क्लेश देना

पड़ता है। १९३६ में निर्मित **उदयेर पाथे** से लेकर **बेनजीर** तक जो १९६२ में उनकी मृत्यु के बाद पूरी हुई भारतीय सिने जगत् में बिमल रॉय युग तीन दशाब्दियों तक फैला रहा जिसमें बिमल रॉय ने बहुत समर्पित होकर अपनी अनूठी फिल्मों का निर्माण किया। उन्होंने बहुत मर्यादित, कलात्मक, सौद्देश्य और टेक्निकल दृष्टि से सही फिल्मों का निर्माण किया जो बंबई की फूहड़ और चटक-मटक वाली फिल्मों से नितांत अलग और श्रेष्ठ कलात्मक स्तर की थीं। जीवन और उसकी वास्तविकताओं की छानबीन करने की बिमल रॉय में सच्ची इच्छा थी और उस पर प्रयोग करने और परदे पर उसकी व्याख्या करने का असाधारण साहस भी उनमें था।

देश और विदेश में उन्हें अनेक पुरस्कार मिले जो उनके कृतित्व की डगर के प्रतीक चिन्ह हैं। उन्होंने जो फिल्में बनाई उनमें दो महत्वपूर्ण डाक्यूमेंटरीज भी शामिल हैं। इनमें से एक है स्वामी विवेकानंद पर और दूसरी गौतमबुद्ध पर। इनमें से दूसरी अपनी नैतिकता और रूपंकर कला के लिए बहुत प्रसिद्ध हुई इनसे उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय मिलता है। मनुष्य और कलाकार दोनों ही दृष्टियों से बिमल रॉय महान् व्यक्ति थे। उनका समूचा जीवन फिल्मों के लिए ही समर्पित था अंगरेजी मुहावरे के अनुसार वे वही जीते थे , उसी में श्वास लेते थे , और सदा उसी का सपना देखते थे । अपनी धरती में उन्होंने उसकी जड़ों को और गहरा किया और बिना समझौता किए सामाजिक विषमताओं को परिभाषित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे। अपनी फिल्मों के लिए वे मानो शांत प्रेमी, नायक की भाँति थे जो अपनी कला की आराधना और उसकी श्रेष्ठता के लिए निरंतर व्याकुल और व्यग्र रहते थे। एक देवदास की तरह जिसने अपने जीवन को प्रेम की वेदी उत्सर्ग कर दिया- बिमल रॉय का समूचा जीवन फिल्मों के लिए उनकी बलिदान गाथा ही है। वे उन थोड़े से भारतीय फिल्म निर्माताओं में एक थे जो अपनी ख्याति और अपनी संस्था के ध्वज के नीचे अपने दर्शक वर्ग पर बिलकुल छाए रहते थे भले ही उन फिल्मों के कलाकार और संगीत निर्देशक कोई भी हों।

फिल्मों के माध्यम से बिमल रॉय ने उसके आयाम की गहरी और व्यापक पड़ताल की जो कदाचित् हिन्दी में उनसे पहले किसी ने नहीं की। वे और गहराई तक उसकी खोजबीन करने के लिए प्रयत्नशील थे कि तभी नियति निर्देशक ने जैसे उनके कंधों पर हाथ रखकर कह दिया हो-रुकिए, यहाँ समाप्ति है-**फ्रीज, जंपकट्**

□ **बी.के. करंजिया**

बिमल रॉय की फिल्मों की रूमानी वास्तविकताएँ

अभी-अभी तो फिल्में चर्चा की केंद्र बिंदु बनने लगी हैं तथा उनकी लोकप्रियता शहरों से आगे बढ़कर नगरों, कस्बों, तथा उप नगरों तक पहुँचने लगी है। पहले ऐसा नहीं था, तकनीशियनों की क्या बात करें फिल्मों के अभिनेता व अभिनेत्रियाँ भी तब तक सितारे नहीं बने थे। उन दिनों फिल्म कोई सम्मानजनक माध्यम नहीं था। वे जो उन दिनों सिनेमा से जुड़े होते थे, उनके साथ न तो सम्मानजनक व्यवहार होता था, न लोगों का उनके प्रति लगाव होता था। और तो और उन दिनों एक फिल्म से जुड़े व्यक्ति के लिए किसी सम्मानजनक बस्ती में एक किराए का मकान पा लाना भी लगभग असंभव ही होता था। इन्हीं दिनों अर्थात तीसरे दशक के मध्य में बिमल रॉय की ख्याति एक छायाकार के रूप में फैलना आरंभ हुई थी। बिमल रॉय की फिल्मों में जनता ने तमाम बारीकियों सहित प्रकाश व्यवस्था, सुगठित व सुचिंतित फ्रेम्स तथा सहज व स्थिर गतियों पर ध्यान देना आरंभ कर दिया था। शांत व सुनियोजित रूमानी व्यक्तित्व वाले बिमल रॉय की खूबियाँ बड़ी अद्‌भुत तरीके से उनकी प्रकाश व्यवस्था तथा फ्रेमिंग में परिलक्षित होती थीं। बिमल रॉय की प्रकाश व्यवस्था मात्र प्रकाश व छाँह अथवा अँधेरे-उजाले की जोड़-बाकी नहीं होती थी, अपितु वह इन तमाम खूबियों को जोड़कर एक ऐसी आनुपातिक उपस्थिति होती थी, जिससे फिल्म

की एक-एक फ्रेम प्रकाशमान होती थी तथा कथ्य की निष्पत्ति भी संभव होती थी।

उन दिनों के बहुत से दिग्गजों ने, जिन्होंने इस युवा छायाकार का काम देखा था, उन्हें इस बात का एहसास तभी हो गया था कि विमल रॉय के रूप में एक संपूर्ण फिल्मकार उभर रहा है।जीवन तथा दोनों के प्रति बिमल रॉय का रवैया एक जैसा था। मनमनी फैलाने का उनके विचारों में कोई स्थान नहीं था। उनका दिमाग सदैव संवेदनशील तथा बुद्धिपूर्ण रहता था। यही वह समय था, जब प्रासंगिकता वाली फिल्में लोकप्रिय होने लगी थीं। छोटे-छोटे कस्बों तथा उपनगरों में भी नए सिनेमाघर बन रहे थे। ब्रिटिश विरोधी अभियान से जुड़े अराजकतावादी तथा आतंकवादी भी गाँधीवादी मार्ग को अपनाने लगे थे। यूरोप के शांत-शीतल आसमान पर दूसरे विश्वयुद्ध के तूफानी बादल जमा होने लगे थे। अमरीका आर्थिक अवसाद से उबर रहा था। फ्रैंक कापरा की उम्मीद जगाने वाली फिल्में तथा अमरीका की सांगीतिक भव्यता वाली फिल्में उस समय समूचे विश्व में लोकप्रिय हो रही थीं।

इन्हीं दिनों भारत के तीन कोनों में फिल्म व्यवसाय की जड़ें जमीं थीं। उत्तर में लाहौर में पंचोली थे, पूर्व में कलकत्ता में न्यू थिएटर्स था तथा पश्चिम में था प्रभात व बॉम्बे टॉकीज। उन दिनों यही तीन प्रमुख केंद्र थे भारत में और यही उन दिनों राजनैतिक व आर्थिक गतिविधियों के केंद्र भी थे।

इस समयावधि में फिल्म व्यवसाय काफी गंभीर किस्म का व्यवसाय हो चुका था। वे जो फिल्मों से जुड़े होते थे, अब उनका सम्मान होने लगा था। बिमल रॉय तब भी फिल्मों में छायांकन ही कर रहे थे। तब तक वे प्रिंस प्रमथेश बरुआ की हिंदी व बंगाली में बनी **देवदास** का छायांकन कर चुके थे। **मुक्ति** तथा कुछ अन्य फिल्में तो श्रेष्ठ छायांकन के कारण ही पहचानी गईं। इस समय बिमल रॉय ने बिना नकली प्रकाश के मदद के बर्मा शैल के लिए लघु फिल्म भी बनाई। प्राकृतिक केरोसिन लेम्प्स तथा लैंटर्स से उन्होंने प्रकाश व अंधकार की उस सजीव वास्तविकता को पकड़ने का यत्न किया, उसे स्टूडियो में उत्पन्न करने का यत्न नहीं किया। निजी तौर पर स्थिर छायांकन के उनके शौक ने भी उन्हें अपने आत्मियों के बीच सतत् लोकप्रियता प्रदान की। न्यू थिएटर्स की सभी अभिनेत्रियाँ उनसे फोटो खिंचवाना चाहती थीं। कानन देवी ने एक बार मुझे बताया था कि बिमल दा से फोटो खिंचवाने के लिए उन्हें एक बार कतारबद्ध होकर प्रतीक्षा करनी पड़ी थी।

फिर आया दूसरा विश्वयुद्ध और कोटा-परमिट की व्यवस्था और साथ लाई ठेका संस्कृति और इस सारी स्थिति से मुठभेड़ को बेचारा मध्यमवर्गीय आदमी। इसी के साथ बंगाल में भयावह सूखा आया और इसी के आसपास उभरकर सामने आई देश की सबसे प्रभावी राष्ट्रीय सांस्कृतिक संस्था—**इप्टा** (इंडियन पीपुल्स थिएटर्स एसोसिएशन)। इस समय बंगाल के सूखे के कारण जो व्यक्ति अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए, उनकी संख्या दूसरे विश्वयुद्ध में मारे गए व्यक्तियों से ज्यादा थी। बंगाल के सूखे पर इप्टा ने एक नाटक खेला**नाबना**। इस नाटक के मंचन के साथ भारतीय रंग आंदोलन में एक नए युग की शुरूआत हुई। इसी कथ्य पर ख्वाजा अहमद अब्बास ने एक फिल्म बनाई थी—**धरती के लाल**, जिसे कि संभवत: पहली नव-यथार्थवादी

फिल्म माना गया। यही वह समय था जब बिमल रॉय ने न्यू थिएटर्स के झंडे तले अपनी स्वयं की पहली फिल्म बनाने की पहल की। इस फिल्म में संगीत निर्देशक रॉयचंद्र बोराल को छोड़कर शेष सभी नए थे। एक नया अभिनेता, एक नई अभिनेत्री, एक नया लेखक, एक नया निर्देशक। इन्हीं दिनों फिल्मों की जोड़–बाकी से बिमल रॉय ने एक फिल्म बनाई उदयेर पाथे, जिसने न सिर्फ प्रयोगवादी फिल्म निर्माण के क्षेत्र में अपितु बॉक्स ऑफिस के क्षेत्र में भी एक नया इतिहास रचा।

एक फिल्म निर्माता के रूप में बिमल रॉय का प्रवेश धमाकेदार रहा। यह बहुचर्चित फिल्म थी- **उदयेर पाथे** अर्थात् सूर्योदय की ओर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों पर तो इस फिल्म का अविश्वास प्रभाव पड़ा, एक दशक से भी अधिक समय तक बंगाल के युवकों व युवतियों ने बिल्कुल वैसा ही व्यवहार किया, वैसी ही अदा में बातचीत की जैसे कि उदयेर पाथे के अभिनेता- अभिनेत्री करते थे गोया इस फिल्म के अभिनेता-अभिनेत्रियों से एक समूची पीढ़ी ने प्रेरणा ग्रहण की। इस फिल्म के रिलीज होने के बाद जब **उदयेर पाथे** उपन्यास प्रकाशित हुआ तो वह इतना लोकप्रिय हुआ कि वो पान दुकानों से भी बड़ी मात्रा में बिका। इस फिल्म का साउंड ट्रेक भी इतना लोकप्रिय हुआ कि पूरा साउन्ड ट्रेक बाद में अठहत्तर आर.पी. एच. रिकॉर्ड पर उतार लिया गया तथा ऐसे रेकार्ड्स बड़ी संख्या में बिके। मैंने **उदयेर पाथे** वर्ष १९६८ में देखी थी अर्थात् उसके निर्माण के पन्द्रह वर्ष बाद। यह मध्य कलकत्ता के एक सिनेमागृह में इस फिल्म का व्यावसायिक प्रदर्शन था। हाल खचाखच भरा था और जैसे ही फिल्म शुरू हुई समूचा दर्शक वर्ग खड़ा हो गया और तब मुझे पता चला कि **उदयेर पाथे** का टाइटिल संगीत तो हमारा राष्ट्रगान है।

उदयेर पाथे के बाद बिमल रॉय ने कुछ और फिल्में भी बनाई जिसमें **हमराही** उदयेर पाथे (हिंदी संस्करण) तथा हिन्दी में बनी **पहला आदमी** मुख्य है। **उदयेर पाथे** के हिन्दी संस्करण व पहला आदमी इन दोनों हिन्दी फिल्मों से बिमल रॉय हिन्दी फिल्म प्रेक्षकों से परिचित हुए। यद्दपि फिलमकार के रूप में विमलरॉय प्रौढ़ होते जा रहे थे मगर वे अपनी पहली फिल्म के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये। बंगाल में बनायी गयी उनकी बाद की फिल्में इस एक स्तर से कम तक ही रही जो स्तर उन्होंने स्वयं अपनी पहली फिल्म से कायम किया था।

दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था। भारत स्वतंत्र हो चुका था। देश का विभाजन हो चुका था। कलकत्ता शरणार्थियों की भीड़ से अटा पड़ा था। सब कुछ गड्ड-मड्ड हो रहा था, हर ओर विघटन का माहौल था। विघटन के संकेत जिन्दगी के सभी क्षेत्रों में दिखने लगे थे। दो देशों में टूटने के बाद भारत भाषावार प्रांतों में बँट गया तथा एक गणराज्य बन गया। लाखों लोग उखड़ गए। नए सिरे से बसने के लिए विस्थापन अपरिहार्य हो गया। ब्रिटिश विरोधी संघर्ष समाप्त हो चुका था। भाषाई प्रांतों के समर्थन में संघर्ष शुरू हो चुका था। इस संघर्ष से एक नयी अजीब सामाजिक-अर्थिक- राजनैतिक व सांस्कृतिक व्यवस्था ने जन्म लिया तथा इसका सिनेमा पर अपना एक अलग प्रभाव पड़ा। विश्वयुद्ध के पूर्व सिनेमा उद्योग भारत के तीन कोनों में फलफूल रहा था। लेकिन युद्ध के दौरान तथा विभाजन के बाद सिनेमा उद्योग देश भर में विकेन्द्रीकृत हो गया।

इस बीच कई अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ सितारे बन गये। बहुत से निर्देशक तथा संगीत निर्देशक व्यक्तिश: पहचाने जाने लगे। युद्ध ने विपुल मात्रा में काला धन उत्पन्न किया जिसमें धनाढ्यों की एक नयी नस्ल पैदा हो गयी। बहुत सारे निर्माता, निर्देशक, अभिनेता व अभिनेत्रियाँ पाकिस्तान चले गए। कुछ वहाँ से भारत भी आये। बहुत ने कलकत्ता में बंबई विस्थापित हो गए। यह एक अजीब किस्म का संक्रमण काल था। एक अजीब किस्म की अराजक संस्कृति चारों ओर फैली हुई थी।

इस बीच रेनुआर कलकत्ता आये **रिवर** फिल्म बनायी तथा लौट गये। निमाई घोष ने शरणार्थियों पर एक फिल्म बनाई तथा मद्रास चले गए स्वयं शरणार्थी बनकर। मृणाल सेन, ऋत्विक घटक तथा सत्यजीत रॉय अपनी- अपनी पहली फिल्म के लिए संघर्ष कर रहे थे। इसी समय बिमल रॉय बंबई आए।

न्यू थियेटर्स से विमल रॉय मृतप्राय बॉम्बे टॉकीज में फिल्म बनाने आये। बाम्बे टॉकीज में न हिमांशु रॉय थे, न देविका रानी थी और न रॉयबहादुर चुन्नीलाल थे। सेवक वाच्छा ने विमल को **माँ** बनाने के लिए अनुबंधित किया। **माँ** के रूप में एक सामाजिक मेलोड्रामा तैयार किया गया जो एक अर्द्ध व्यावसायिक प्रस्तुति थी, कलाकारों के चयन के मामले में भी तथा नाटकीय संरचना के मामले में भी। बिमलरॉय, दूसरों से थोड़ा हटकर अपने तकनीशियस की पूरी टीम के साथ बंबई आये। उनके साथ आये ऋषिकेश मुखर्जी नबेन्दु घोष, कमल बोस, नजीर हुसैन, पौल महेन्द्रा तथा असिल सेन। ये सभी एक साथ मलाड के एक किराए के मकान में रहते थे जबकि बिमल रॉय, उस एक बंगले में टिके जहाँ देविकारानी अमूमन अपने खुशहाली के दिनों में रुका करती थीं।

माँ के बाद बिमलरॉय ने **परिणीता** बनाना आरंभ की। अशोक कुमार प्रोडक्शन के लिए बनायी गयी इस फिल्म में मुख्य भूमिकाएँ अशोक कुमार व मीनाकुमारी की थी। लगभग इसी के साथ-साथ उन्होंने **दो बीघा जमीन** भी आरंभ की। इन फिल्मों के पहले ही भारत में पहला अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह हुआ था। **बाइसिकल थीव्ज**, **मिरेकल इन मिलान** तथा **यूकीवरीस देखी गई। पुडोवकित तथा जेरेक्सोव रूस से भारत-भ्रमण को आये। एक नयी चेतना जागी। कला जगत् में सिनेमा को अचानक इज्जत की नजर से देखा जाने लगा। नए प्रेक्षक, नए समीक्षक तथा नए फिल्मकार सामना आए। विमलरॉय अभी भी बंबई में जड़े तलाश रहे** थे।

दो बीघा जमीन के साथ बिमल रॉय प्रोडक्शन के एक हिस्से के रूप में एक और नयी प्रतिभा सामने आयी-वे थे लेखक एवं संगीत निर्देशक सलिल चौधरी। अँधेरी के मोहन स्टूडियो में एक नयी सिनेमा संस्कृति पनपना आरंभ हो गई थी। विमल रॉय मलाड का देविकारानी का बंगला छोड़कर बान्द्रा में माउंट मेरी ने एक राजमहल में आ गए। दक्षिण कलकत्ता के सरदार शंकर रोड़ से **उदयेर पाथे** के माध्यम से जो रास्ता बिमल रॉय ने अख्तियार किया था वो विभिन्न मार्गों तथा मोड़ों से गुजरकर माउंट मेरी तक पहुँचा। **उदयेर पाथे** के विमल रॉय का 'दो बीघा जमीन' से पुनर्जन्म हुआ था। इस फिल्म के माध्यम से बिमलरॉय ने बंबई के बाजार में पैर जमा लिए थे। इसी दौरान पूरव, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण की प्रतिभाएँ बिमल रॉय प्रोडक्शंस में एकत्र हुई।

विमलरॉय ने यद्दपि अशोक कुमार प्रोडक्शन के लिए **परिणीता** तथा अपने मित्र हितेन चौधरी के लिए **'बिराज बहू'** बनायी मगर इन फिल्मों के निर्माण के साथ ही उन्हें इस बात का अहसास हो गया कि जिस प्रकार की फिल्में वे बनाना चाहते हैं उनके लिए उन्हें खुद ही अपनी फिल्म बनानी होगी। फिल्म निर्माण संस्था का मतलब है एक भारी भरकम स्थापना तथा आवर्ती व्यय। आवर्ती व्यय से निपटने के लिए जरूरी है आय का एक नियमित जरिया विमल रॉय ने तब **नौकरी** बनायी। किशोर कुमार व शकीला को लेकर बनायी गयी यह फिल्म समाज पर व्यंग्य थी। कलाकार कुल मिलाकर इस कहानी के उपयुक्त नहीं थे। इन कलाकारों ने, न तो अभिनीत किए जा रहे चरित्रों का ठीक से निर्वहन ही किया और न ही चरित्रों में अन्तर्निहित दर्द को अभिव्यक्त ही किया। **नौकरी** यद्यपि एक अच्छी फिल्म थी जिसमें सलिल चौधरी का झूमा देना वाला संगीत था। तथा ऋषिकेश मुखर्जी का बुद्धिमत्तापूर्ण संपादन भी मगर **दो बीघा जमीन** के बाद जो अपेक्षाएँ विमल रॉय से थीं वो पूरी हो पायी। **नौकरी** के लिए ओ. सी. गांगुली ने अत्यंत कलात्मक एवं प्रतीकात्मक पोस्टर बनाए थे मगर ये पोस्टर भी फिल्म को सहायता नहीं दे पाये।

विमल रॉय के भीतर की रुमानियत हमेशा यह चाहती रही कि एक बार फिर **देवदास** बनाई जाए। वे दो बार **देवदास का फिल्मांकन कर चुके थे, पहले पी.सी. बरुआ को देवदास के रूप में बंगाली में और बाद में सहगल को देवदा में हिन्दी में। दोनों ही बार फिल्म का निर्देशन पी.सी. बरुआ ने किया। बिमलरॉय के लिए भी यह एक बड़ी जिम्मेदारी थी तथा उन्होंने इस बड़ी चुनौती का सामना भी किया। इस दुष्कर स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने एक तगड़ी टीम जमा की। सचिन देव बर्मन संगीत निर्देशक के रूप में व साहिर लुधियानवी गीतकार के रूप में। फिल्म नबेन्दु घोष तथा राजिन्दरसिंह बेदी द्वारा लिकी गयी तथा फिल्म की पाँच प्रमुख भूमिकाएँ पाँच महत्वपूर्ण कलाकारों द्वारा निभाई गयी। उस समय के दुखांत भूमिकाओं के शहंशाह दिलीप कुमार ने देवदास की भूमिका निभाई, बंगाल की श्रेष्ठ अभिनेत्री सुचित्रा सेन ने पार्वती की भूमिका निभाई और नृत्यांगना अभिनेत्री वैजयंतीमाला ने निभाई पवित्र वैश्या की भूमिका। अद्वितीय अभिनेता मोतीलाल ने किया चुन्नीलाल का अभिनय और नसीर हुसैन तय हुए वफादार नौकर धर्मदास के लिए। उत्कृष्ट छायांकन, सुचिंतित संपादन, कुशल व सक्षम अभिनय तथा अत्यंत मनोहारी निर्देशन, सभी कुछ तो श्रेष्ठ था इस मिल्म में। ब्लैक एण्ड व्हाइट में बनी यह फिल्म आज भी एक रोमांचक दृश्य-श्राव्य अनुभव है।**

***यद्यपि* दिलीप कुमार के सभी प्रशंसक दिलीप कुमार** की **देवदास** की भूमिका को क्लैसिक (शास्त्रीय) करार देते हैं। मगर कुछ यह सोचने को मजबूर हो जाते हैं कि देवदास की त्रासदी दिलीप कुमार के चेहरे पर पहले फ्रेम में ही नजर कैसे आती है? शरतचन्द का देवदास अपने अंत से परिचित नहीं था मगर दिलीप कुमार देवदास की नियति को जानते थे। इसीलिए उन्होंने शुरुआत से भूमिका को त्रासदी का स्पर्श दिया, जो कि दुखद था। लेकिन **देवदास** फिल्म की बुनावट इतनी कसी हुई थी कि वो एक भावात्मक अनुभूति पैदा करने में सफल रही, उन सभी के दिलों में जिन्होंने इस फिल्म को देखा। फिल्म में बिलम रॉय ने कुछ निःशब्द क्लोज अप का उपयोग किया तथा

व्यग्रता तथा संताप को व्यक्त करने के लिए रोजमर्रा की जिंदगी से जो प्रतीक उठाए वे भी निर्दोष थे। एक अपरिहार्य अंत को प्रकट करने के लिए ट्रेन वाला दृश्य इतना सरल तथा सुगठित था कि उस दृश्य को दशाब्दियों बाद भी आज तक लोग नही भुला पाए हैं।

बिमल रॉय कभी भी जल्दी में नहीं रहते थे। वे फिल्मों के निर्माण में अपने हिसाब से समय लगते थे। इस बीच उनकी निर्माण संस्था कायम रहती थी, काम करती रहती थी, तनख्वाहें बँटती रहती थीं। सभी इकाईयाँ एक सार्थक रचना के लिए सुविधा के साथ काम करती रहती थीं। लेकिन सब कुछ इस सहजता के साथ चला नहीं। बिमलरॉय के एक दूर के रिश्तेदार अरविंद सेन ने कुछ कम बजट की व्यावसायिक फिल्में जैसे **अमानत** आदि भी बिमलरॉय प्रोडक्शंस के झंडे तले बनायी। उनके सहायक असित सेन जो उनके साथ ही कलकत्ता से आए थे तथा फिल्मों में छोटी-मोटी भूमिकाएँ भी किया करते थे, वे भी फिल्म निर्देशक बन गए तथा उन्होंने दो फिल्में बनाई **परिवार** एक बंगाली पारिवारिक हास्य फिल्म का रिमेक थी जिसमें सलिल चौधरी का प्यारा संगीत था और **अपराधी कौन** भी एक बंगाली अपराध कथा का रिमेक थी। किसी को भी इन फिल्मों पर गर्व नहीं था लेकिन प्रोडक्शन जारी रहा और इन फिल्मों के निर्देशक शेष जिन्दगी के लिए एक खास स्तर के हास्य अभिनेता बन कर रह गए।

सेवक वाच्छा जिसके लिए बिमल रॉय ने **माँ** बनाकर बंबई में अपनीय जिंदगी आरंभ की थी वे चाहते थे कि बिमल रॉय एक बड़े बजट वाली भव्य फिल्म बनाएँ। सेवक वाच्छा के प्रोडक्शन की पुनर्स्थापना के लिए तथा उसके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए बिमल रॉय सोहराब, दिलीप कुमार व मीना कुमारी को लेकर शंकर जयकिशान के संगीत निर्देशन में **यहूदी** बनाने को राजी हो गए। बिमल रॉय ने मोहन स्टूडियो के अपने ऑफिस से इस फिल्म के निर्माण का काम संभाला। 'यहूदी' के निर्माण के साथ ही बिमलरॉय प्रोडक्शंस को चीरती हुई एक अजीब किस्म की व्यावसायिक संस्कृति आरंभ हुई। सेवक वाच्छा प्रोडक्शंस के कई सदस्य बिमल रॉय प्रोडक्शंस के अभिन्न हिस्सा बन गए तथा कविताओं व चित्रकारी पर विचार-विमर्श की संस्कृति पनपी और बिरली फिल्मों के देखे जाने का सिलसिला थम गया। हर सदस्य ने हर प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करना प्रारंभ किया तथा सितारों को लड़ियाने का काम भी। फिल्म निर्वाह। का एक हिस्सा बन गया।

लगभग इसी समय ऋत्विक घटक ने कभी-कभार बिमल रॉय प्रोडक्शन में आना प्रारंभ किया था। ऋत्विक घटक फिल्म **नागरिक** जिसे वे न पूरी कर नाए न ही रिलीज कर पाए वो कलकत्ता में प्रतिबिंबित ही रही और वे फिल्मीस्तान में पटकथा लेखन का काम करने रहे। उनकी अप्रसन्नता अब कुंठा में बदल रही थी। बिमल दा अब कोई एक व्यावसायिक फिल्म बनाना चाहते थे। इसी फेर में **मधुमती**बनी, एक सांगीतिक पुनर्जन्म अपराध कथा। ऋत्विक की पटकथा, सलिल चौधरी का संगीत तथा सभी उस समय के सभी व्यावसायिक लटके-झटके इस फिल्म में शामिल किए गए। यह फिल्म विशुद्ध व्यावसायिक उद्देश्यों को सामने रखकर बनायी गयी थी। दिलीप कुमार, वैजयंती माला, प्राण व जयंत सभी तो इस फिल्म में थे। संगीत व कहानी दो

व्यावसाविक रूप से असफल व्यक्तियों के हाथ में थी- ऋत्विक घटक तथा सलिल चौधरी के हाथ में। वाकी सभी व्यावसायिक रूप से वेहद सफल व्यक्ति थे। वितरकों तथा कुछ प्रमुख कलाकारों ने अपनी ओर से हरसंभव प्रयास किया कि संगीत निर्देशक वदल दिया जावे मगर बिमलदा अपने आदमी पर दृढ़ थे।

बिमलदा के कई सहयोगी बिमलदा से इसलिए नाराज थे क्योंकि वे अपने सारे संसाधन तथा ताकत इस प्रकार की व्यावसायिक फिल्मों में लगा रहे थे। उनके एक सहयोगी ने तो उनसे प्रश्न भी किया कि बिमलदा जैसे प्रगतिशील फिल्मकार कैसे **मधुमती** जैसी कथा पर फिल्म वना सकते हैं और वो भी इतने भव्य तरीके से ? उन्होंने बड़े अंदाज में मुस्कुराते हुए कहा कि मधुमती की कहानी तो एक अतिशय प्रगतिशील कथा लेखक ने लिखी थी जिसका नाम है ऋृत्विक घटक। हल्का-फुल्के क्षणों में तो ऋत्विक ने भी कहा था कि वास्तव में उन्होंने ऐसा करके विमल रॉय प्रोडक्शंस को विनष्ट करने का षड्यंत्र रचा था। उन्होंने बिमलदा रॉय से अपने सारे अंडे एक टोकरी में रखवा लिए और क्योंकि उसकी वह टोकरी बॉक्स ऑफिस पर उछलनी ही थी। ऋत्विक घटक के अनुसार ये मध्यमवर्गीय फिल्मकार ही वास्तविक प्रगतिशील सिनेमा के असली दुश्मन है। **मधुमती** ने वॉक्स ऑफिस पर कोई उछाल नहीं लिया। मधुमती विमल राव प्रोडक्शन की सबसे हिट फिल्म साबित हुई तथा यह निर्माण संस्था बंबई के फिल्म बाजार में दृढ़ता के साथ खड़ी रही।

मधुमती वास्तव में रंगीन फिल्म वनाई जा सकती थी मगर विमल राव तो श्वेत-श्याम रंगों के शौकीन थे। आप यदि **मधुमति** इन दिनों भी देखें तो उसमें सर्वत्र रंगों की घटा देखना नहीं छोड पायेंगे। विमलरॉय के दो सहायकों कला निर्देशक सुधेन्दु राय तथा कैमरामैन दिलीप गुप्ता ने बड़ा अच्छा काम किया। **मधुमती** में असंख्य ऐसे दृश्य थे जिसमें इनडोअर व आउटडोअर दृश्यों की बड़ी खूबसूरती से एक साथ संयोजित किया गया था। **मधुमती** की दृश्य श्रव्य गुणवत्ता के मुकाबले तो भारतीय सिनेमा की बड़ी गिनी चुनी फिल्में ही टिक सकती हैं। इस फिल्म में आउटडोअर दृश्यों को विस्तार तथा इनडोअर दृश्यों की आन्तरिकता ने सुगठित ध्वनि-अंकन के साथ मिलकर एक ऐसा सिनेमाई वितान गढ़ा कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना बड़ा कठिन हो गया। **मधुमति** जिन दिनों संपादक की टेवल पर बंबई में एक रूसी फिल्म **क्रेंस आर फ्लाइंग** का निजी तौर पर प्रदर्शन हुआ। हम सभी ने यह फिल्म कई बार देखी। एक दृश्य ने तो विमल दा को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने फिल्म में जहाँ-जहाँ भी वैसी स्थितियाँ थी उनकी शुरुआत का फिर से फिल्मांकन किया।

□ बासु भट्टाचार्य

मेरे पति बिमल रॉय

मैं नियमित लेखिका नहीं हूँ, न ही यह बिमल रॉय की जीवनी लिखने का कोई प्रयास है। मुझे उनका जीवन कथाकार होना अच्छा लगता है। जब मुझसे उस व्यक्ति को याद करने का आग्रह किया गया जिसके साथ मैंनेअपने जीवन के तीस बेहतरीन साल गुजारे थे , तब मैं ना न कर पाई। मैं पाठकों को उनके जीव ँ के बारे में कुछ बताना चाहूँगी जितना अतीत की यादों के सहारे बताया जा सकता है।

मैं मुश्किल से बारह बरस की थी, जब मैंने उन्हें पहली बार देखा था। उस अपरिपक्व उम्र के दौर में मुझे यह भान कैसे हो सकता था कि वही भविष्य में मेरे जीवन-साथी बनने वाले हैं। उनके और मेरे परिवार में काफी घनिष्ठता थी। जब भी मैं कलकत्ता जाती थी, मैं उन्हें देखा करती थी, र्षों यह तो नहीं कह सकती कि मैं उनसे मिला करती थी। जब मैं कुछ ज्यादा दिनों के लिए वहाँ मैट्रिक का इम्तहान देनी गई, तब मैं उनके ज्यादा करीब आई। मैं पन्द्रह की थी और वह उम्र ज्यादा ही

प्रशावनीय होती है। मेरी माँ बीमार पड़ गई और युवा बिमल के उनकी देखभाल की, और हमारी मदद की। मैं लगभग अनजाने में ही मेरी बीमार माँ की उनके द्वारा की गई मौन सेवा पर मोहित थी? क्या इसमें कृतज्ञता का अंश भी था। कुछ भी हो, हम बनारस लौट गए। २स बार हमें शांत व मितभाषी व्यक्ति की बड़ी याद आयी जिसे हम कलकत्ता में छोड़ आए थे। परंतु निश्चय ही प्रेम जैसी कोई बात नहीं थी।

मुझे जल्दी ही मालूम पड़ा कि वह भी मुझे पसंद करते थे। उन्होंने अपने परिवार वालों से पहले ही कह दिया था कि अगर वे कभी शादी करेंगे तो मुझी से। प्रस्ताव आया और मेरे पिता ने, जो दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। इसे हार्दिक स्वीकृति दे दी। परंतु आपत्तियाँ आने में देर नहीं हुई। मेरे रिश्तेदारों को यह रास नहीं आया कि मैं किसी फिल्मी व्यक्ति से शादी करूँ। वे आज जैसे दिन नहीं थे और फिल्में शिक्षित परिवारों में निषिद्ध समझी जाती थीं। परंतु मेरे मेट्रिक पास होने के दो साल बाद होनी होकर रही और मैं फिल्म-निर्माण की प्रसिद्ध संस्था न्यू थियेटर्स के कैमरामैन की पत्नी बन गई। **देवदास** और **मुक्ति** उनकी स्वतंत्र कैमरा कृति थीं।

न्यू थियेटर पर ही उनका प्रथम स्वतंत्र निर्देशकीय पड़ाव आया **उदयेर पाथे**। यह एक बिलकुल ही नयी तरह की फिल्म थी जिसे तुरंत सफलता हासिल हुई। इसी के साथ बिमल रॉय प्रसिद्ध निर्देशक बन गए। उनकी अन्य सुपरिचित फिल्में हैं। **अंजानगढ़, पहला आदमी** और **मंत्र मुग्ध** जो सभी न्यू थियेटर्स में ही बनीं। बाद के सालों में उनका नाम हिन्दी फिल्मों में अच्छे निर्देशन का पर्यायवाची बन गया था।

यद्दपि न्यू थियेटर्स एक जानी- पहचानी संस्था थी, तो भी आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई। जो इससे संबद्ध रहे थे। उन्हें नए क्षेत्र तलाशने पड़े। और चूँकि बंबई हमेशा भारत हॉलीवुड रहा है इसलिए बिमल बंबई आए और उन्हें बाम्बे टॉकीज में एक कार्य मिला। उन्होंने पचास के शुरू में **माँ** बनाई और भारत की फिल्म राजधानी में शीघ्र ही अपने पैर जमा लिए।

बिमल रॉय हालाँकि स्वभाव से शांत थे परंतु मित्रों को वे शुरू से ही पसंद करते थे और उनके मामले में मित्रता एक निःस्वार्थ जज्बा थी। वे कलकत्ता से अपने प्रारंभिक सहयोगियों को साथ लाए। समय के साथ उन्हें प्रसिद्धि और दौलत मिली। ऋषिकेश मुखर्जी, पॉल महेंद्र, नबेन्दु घोष, नासिर हुसैन और असित सेन आए। वे सभी प्रतिभाशाली

फिल्मकार एक ही डिब्बे में यात्रा करते थे।

रिहाइश की किसी समस्या का प्रश्न ही नहीं उठता था जबकि हितेन चौधरी मेजबान के रूप में मौजूद हों। बॉम्बे टॉकीज की महारानी देविका रानी तब तक अपने साम्राज्य को त्याग चुकी थीं और फिल्म-निर्माण की अपनी लंबी साधना से भी विरत हो गयी थीं। उनका मलाडवाला आलीशान बंगला जैसे कलकत्ता से याए जत्थे का स्वागत करने के लिए ही खाली था। हमने न केवल साथ-साथ यात्रा की बल्कि साथ-साथ ही बंगले में ठहरे भी। दल-भावना चरम् पर थी। यह एक पुरुष समूह था जिसकी देखभाल का जिम्मा मुझ पर था। मैं उन सबकी बऊदी थी और वे अपनी रोजाना की घरेलू जरूरतों के लिए पर आश्रित थे। यह एक तरह की निरंतर पिकनिक थी। मलाड बंगले पर ही मुझे एक पश्चप्रवण व्यक्ति की मिलन सारिता की प्रवृत्तियों का पता चला। उन्हें अपने इस परिवार का प्रमुख बनना बड़ा पसंद था। प्रायः हमारी मेज पर अतिरिक्त भोजन करने वाले मौजूद रहते थे।

कलकत्ता में, मैं एक बड़े परिवार की **छोटी बहू** थी और मुझे पति का साथ जरा कम ही मिलता था। बम्बई में भी बात इससे भिन्न नहीं थी। परन्तु मुझे एक संतुष्टि का भाव हरदम घेरे रहता था। मैं जानती थी कि वे मुझसे कितना प्रेम करते थे हालाँकि उन्होंने कभी इसे व्यक्त नहीं किया जैसा **फिल्मी** संवादों में अकसर किया जाता है। वह इतने मौन थे, तो भी इतने अर्थपूर्ण। और मुझे हमेशा महसूस होता रहा कि उनके दिल में मेरे और मेरी भावनाओं के लिए गहरे सम्मान का भाव था। एक पत्नी को इससे अधिक की अपेक्षा या माँग नहीं करना चाहिए।**परिणीता** और **दो बीघा जमीन** साथ–साथ आई तथा बिमल को और आदमी **आयात** करने पड़े। सलिल चौधरी आए और ज्यादा दिन नहीं हुए होंगे इसके पहले ही कमल बोस कैमरामैन, सुधेन्दु भी आ पहुँचे। 'जितने लोग उतना ही खुशनुमा वातावरण' परंतु इमारत की भौतिक सीमाएँ भी थीं। और जब संख्या संतृप्ति बिंदु पर पहुँच गई, तब घर की खोज शुरू हो गई। एक–एक करके सभी अपने–अपने नए घरों में जा बसे। यह शायद जिंदगी का दस्तूर है कि हम बिछड़ने के लिए ही मिला करते हैं। परंतु घरों का यह अलगाव दिलों या रास्तों के अलगाव नहीं थे। जब वे अलग–अलग रहते थे तब भी वे सहकारिता की भावना से साथ–साथ काम करते रहे।

शायद यह पहली बार था कि मुझे उनका साहचर्य अधिक अपेक्षित था। परंतु यह मेरी तकदीर में नहीं था। क्योंकि वह न केवल

व्यावसायिक रूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे, बल्कि संबद्ध गतिविधियों से भी जुड़ गए थे। उन्हें न सिर्फ राष्ट्रीय बल्कि अंतरराष्ट्रीय आयोजनों में भी अकसर बुलाया जाता था। उन्हें अधिकांश अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों में आमंत्रित किया जाता था। कुछ में वे जूरी के सदस्य हुआ करते थे। कई बार जैसे मॉस्को में, मैं उनके साथ होती थी। वह कई साल इम्पा (आई.एम.पी.ए.) के अध्यक्ष भी रहे, संघ लोक सेवा आयोग से भी संबद्ध रहे और पूना के फिल्म इंस्टीट्यूट को प्रारंभ करने में भी उनका हाथ रहा, अधिक थकान से उनका स्वास्थ्य बुरी तरह चौपट हो गया और वे अपेक्षाकृत कम उम्र में ही इस दुनिया से चले गए। "भगवान जिनसे प्यार करता है उन्हें जल्दी ही अपने पास बुला लेता है" यही हमारी सांत्वना है। अन्यथा, परिवार उनकी लोकप्रियता की कीमत चुका रहा है। परंतु ऐसा ही होता है जहाँ परिवार का कोई भी सदस्य प्रतिष्ठित हो।

बिमल रॉय एक व्यस्त व्यक्ति थे, फिल्म निर्माण में व्यस्त परंतु वे कभी भी **फिल्मी** तरह के नहीं थे। इसके विपरीत वे चाहते थे कि परिवार **फिल्मी** माहौल से मुक्त रहे। हमारे घर में एक भी फिल्मी पत्रिका आती थी। कहीं भी दंभ का कोई चिन्ह नहीं था। हाँ, उन्हें अपने परिवार याने परंपरागत भारतीय परिवार की जीवन शैली पर गर्व अवश्य था। परिवार में वे नारी का स्थान ऊँचा मानते थे। उनकी फिल्में नारी के प्रति उनके सम्मान-भाव को दर्शाती हैं। मिसाल के तौर पर **बिराज बहू, परिणीता, सुजाता** और **बंदिनी** को देखिए, जो सभी क्लैसिक्स की श्रेणी में आती हैं। केवल फिल्मी सफलता नहीं, यही वह बात थी जिसने उनके प्रति लोगों का सम्मान जगाया। बिमल रॉय अपनी जान-पहचान के लोगों के मस्तिष्क में एक स्थायी स्थान बना चुके हैं। और जबकि वे हमारे बीच नहीं है यही हमारा पथप्रदर्शक सितारा है।

"हिज लाइफ वाज जेंटल एंड द
एलीमेंट्स
सो मिक्सड इन हिम दैट नेचर माइट
स्टेंड अप
एंड टू से टू ऑल द वर्ल्ड दिस वाज
ए मैन।"

(श्रीमती मोनोबिना रॉय द्वारा लिखे गए विशेष लेख पर आधारित)

मेरे बाबा, बिमल रॉय

हमारा बचपन ज्यादातर दक्षिणी कलकत्ता में बीता था। सरदार शंकर मार्ग पर एक छोटे से ग्राउंड फ्लोर के मकान में जो टॉलीगंज से अधिक दूर नहीं था, वहीं हम रहते थे। टॉलीगंज में गल्पकथाओं के घर का मालिक था न्यू थियेटर्स, जहाँ बाबा काम किया करते थे, वैसे ही जैसे दीगर बच्चों के पिता काम किया करते है। उनका क्या काम था अथवा वे कहाँ काम करते हैं उसके बारे में हम बच्चों ने वास्तव में कभी कोई परवाह थी ही नहीं। कभी भी एक क्षण के लिए भी हमें यह अहसास नहीं हुआ कि हमारे पिताजी दूसरों के पिताजी से अलग कोई काम करते हैं। घर में वे नियमित व व्यवस्थित जीवन बिताना पसंद करते थे। वे प्रति रविवार बिल्कुल श्रद्धाभाव से हम बच्चो को सुबह एंडर्सन तरणताल ले जाया करते थे या फिर विशेष अवसर पर औतराम घाट के प्यारे से रेस्तरां भी ले जाते थे। ये मनोरम स्थान अभी भी यदि वहां हो तो मुझे आश्चर्य होगा। मैं प्रार्थना करना चाहूँगी कि ये सुरम्य स्थल काल के कूड़ेदान में न फिंक गए हों न ही उनका अपरिहार्य रूप से दुरुपयोग हो रहा हो।

प्रायः वह दोपहर बाद का समय होता था जब वे अपनी चालीस की मॉडल वाली रोल टॉप वाली बी एम डब्ल्यू कार भेजा करते थे . हमें स्टूडियो की सैर करवाने के

लिए। यह स्टूडियो की सैर तभी आयोजित की जाती थी जब वहाँ कोई गाना फिल्माया जा रहा हो या कुछ ऐसा हो रहा हो जो परिवार सहित देखा जा सकता हो। न्यू थियेटर्स जाना हम सबको कितना अच्छा लगता था! स्टूडियो के सुसज्जित बागीचे में जब शाम का झुटपुटा छाता था हम सभी लड़कियाँ जिनमें हमारी चचेरी बहनें भी शामिल हुआ करती थीं स्टूडियों में ही पाले गए पंखे–सी पूँछ वाले कबूतरों को पकड़ने का यत्न करती थीं या पेड़ों के नीचे पड़े बुकुल के पके फल चुना करतीं थीं। हमारे कलकत्ता के मकान में न बागीचा था न पेड़। इस कच्ची उम्र में ही इन स्टूडियों ने जो कुछ हमें दिया वो कमोबेश एक स्वर्ग ही था।

और जब हमें सेट पर ठूँस दिया जाता था हमें अपनी नाक उस रंग की तीखी गंध के कारण बंद करनी होती थी जो पूरे सेट पर छाई रहती थी और इससे भी दर्दनाक होता था एकदम चुप बने रहना। कहीं से एक जोरदार आवाज आती थी 'साइलेन्स' और हमें चुप हो जाना होता था। शब्दशः हमें तब तक अपनी साँस थामे रहना पड़ता था जब तक यह कसौटी पूरी नहीं हो जाती तथा 'ओ के' की आवाज नहीं आ जाती। वो अजीब गंध, और रंगे पुते चेहरों की वो बेतुकी उपस्थिति, कागज के फूल या वास्तविकता का आभास दिलाते वे बनावटी वृक्ष ये सब विरोधाभासी चीजें मेरे पिता की रोजमर्रा की जिन्दगी व व्यक्तित्व का एक हिस्सा बन गई थी तथा वे इसके प्रति ईमानदार भी थे। वे यथार्थ से दूर एक अलग ही दुनिया में थे जहाँ तड़क–भड़क का ही राज्य होता है।

हमारे बंबई आने तक सब कुछ वैसा नहीं था। अब हमारा घर उनके स्टूडियों के समीप आ गया था। बॉम्बे टॉकीज से हमें इस बात का अहसास हुआ कि हमारे पिताजी का काम केवल एक व्यवसाय नहीं है। जब हमने कलकत्ता छोड़ा था उस समय से अब तक उनकी मानसिकता में बहुत फर्क आ चुका था। अब न सिर्फ हम उनके पास ज्यादा जाने लगे थे बल्कि जैसे–जैसे हमारा साबका उनके काम से पड़ रहा था हम एक नई समझ के साथ उनको समझने लगे थे। जब मैंने उन्हें कैमरे के कोण बदलते, कलाकारों को अभिनय के बारीक गुर बताते तथा उन्हें उनकी प्रस्तुतियों के सूक्ष्मतम भावार्थों को समझाते हुए देखा तो मुझे अपने भीतर एक अजीब तथा व्याख्या से परे गर्व की अनुभूति हुई एक ऐसा गर्व जो ताजिन्दगी मेरे साथ रहेगा, कई जिन्दगियों तक मेरे साथ रहेगा और उस अहसास की अमरता को समझाता रहेगा।

इस समय तक बाबा बंबई में जम चुके थे। यह एक त्रासद विकल्प से कुछ अधिक ही था। बंगाल का फिल्म उद्योग १९४९ के आसपास प्रायः समाप्त ही हो गया था। बंगाल का विभाजन एक मृत्यु सदृश्य हादसा था। बाबा नौ वर्ष तक निर्देशक तथा बारह वर्ष तक कैमरामेन रहे थे। उनका बाम्बे टॉकीज के साथ जो मामूली–सा भी जुड़ाव था वो **माँ** फिल्म के साथ समाप्त हो गया। बंबईया फिल्म उद्योग के तरीकों से वे अप्रसन्न थे। **दो बीघा जमीन** के साथ वे उभरे और भारतीय सिनेमा में नव–यथार्थवाद के प्रणेता बने। **दो बीघा जमीन** हमारे भारतीय सिनेमा के लिए एक मोड़ बिन्दु था। सार्वभौमिक तौर पर यह मेरे पिता की श्रेष्ठतम तथा सर्वाधिक चर्चित फिल्म रही। पूर्वी खासकर सोवियत संघ तथा चीन में भारतीय सिनेमा की जो दो सार्वकालिक महान फिल्में मानी गई वो विमल रॉय की **दो बीघा जमीन** तथा

राजकपूर की आवारा ही थीं।

दो बीघा जमीन फ्रैंच में **कलकत्ता विले क्रुएल** के नाम से डब की गयी। इस फिल्म का सामान्य कथाक्रम फिल्माकार की अपनी जिन्दगी का ब्यौरा प्रतीत होता है तथा इस फिल्म पर एक आत्मकथा की छाया स्पष्ट रूप मे पारिलक्षित होती है। फिल्म की कहानी मे वर्णित किसान शम्भू के समान ही बाबा को भी पूर्वी बंगाल के अपने पैतृक गांव सुआपुर मे विभाजन के काफी पूर्व विस्थापित होना पड़ा था। ढाका से कुछ मील के फासले पर हमारे पूर्वज इस सुदूरवर्ती कस्बे में रहते थे। वे एक प्रकार से जमींदार ही थे। बाबा उस समय बीस साल के आसपास ही थे जब उनके पिताजी मरे थे। त्रासदी का यह क्रम आगे भी जारी रहा। एक दूर की रिश्तेदार बाबा की माँ बनकर हमारे उस पैतृक घर में आ गयी। बाबा ठाकुमाँ (दादी) और उनके छोटे भाईयों को लेकर कलकत्ता आ गये। मेरे सबसे बड़े चाचा को छोड़कर किसी के पास उस समय काम नही था। चाचा भी किसी यातायात कंपनी मे छोटा मोटा काम करते थे।

उनके उन खुशहाल दिनों में वहाँ सुआपुर में घर मेहमानों से भरा रहता था। स्थानीय प्रतिभाओं तथा प्रतिष्ठित लोगों की मेहमानी का अवसर अक्सर मिलता रहता था। बाबा ने अपने कॉलेज के दोस्तों के साथ एक शौकिया नाटक मंडली बना ली थी। नाटक में सुंदर युवती की भूमिका जो प्राय: केंद्रीय भूमिका ही होती थी बाबा ही को करना होती थी। उन्ही में से एक लोकप्रिय पारिवारिक नाटक था **यहूदी की बेटी**। यही घालमेल वाला नाटक उनके निर्देशन में लगभग पच्चीस वर्ष बाद एक फिल्म में तब्दील हो गया क्योंकि इस कथा के प्रति बाबा का जो मोह था उसे देखते हुए ऐसा ही था। इस फिल्म की प्रमुख भूमिका में थे दिलीपकुमार, मीना कुमारी और सोहराब मोदी। बाबा का दिलीप कुमार तथा मीना कुमारी के प्रति विशेष लगाव था तथा उन दोनों ने बाबा की कई महत्वपूर्ण फिल्मों में काम भी किया।

मेरे पिता भारतीय फिल्मकारों की दूसरी पीढ़ी के फिल्मकार थे। उनके समय के कुछ बडे नामों में शामिल थे प्रमथेश बरुआ, हिमांशु रॉय, नितिन बोस तथा देवकी बोस। नितिन बोस, सिनेमेटोग्राफर के रुप में बाबा के बुद्धिमान परामर्थदाता थे। एक कैमरामेन के रूप में बाबा ने जिन क्लैसिक फिल्मों का फिल्माकन किया वे थी बरुआ की **देवदास** और **मुक्ति**। मुक्ति के सोथ बाबा प्रमुखता से उभरे। यह एक विलक्षण घटना थी जब एक फिल्म कैमरामेन का नाम काननबाला या प्रमथेश बरुआ के साथ जगमगा रहा था। **मुक्ति** फिल्म की दिलकश तथा भेद देने वाली खूबसूरत फोटोग्राफी देखने वाली अपार भीड के लिए बिमल राय का नाम घरेलू हो गया था। एक निर्देशक के रूप में बिमल रॉय का प्रवेश अभी भी नहीं हो पाया था।

कानन देवी मेरे पिता को बड़ी कशीश के साथ याद करती हैं तथा उनके प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए कहती है "बिमल बाबू एक उत्कृष्ट प्रोर्ट्रेट फोटोग्राफर थे। शूटिंग समाप्त हो जाने के पश्चात मैं, चन्द्रावती तथा कमलेश कुमारी आदि लड़कियों की भीड़ उन्हे घेर लेती थी तथा उनसे फोटो खींचने के लिए अनुभव करती। वो कैसे हमसे झेंपते थे तथा हमें उन्हें छेड़ने में कितना मजा आता था। सेट पर इस छेड़छाड़ के बावजूद उन्हें किसी ने बोलते हुए नहीं सुना। मुझे उनकी वह रहस्यमयी मुस्कान आज भी याद है, एक छरहरे युवक की भाँति। हमेशश खद्दर पहने तथा हमेशा

कैमरे से सटे हुए, उस समय हमारे फिल्म उद्योग में ऐसे भद्र लोग कम ही थे। मुक्ति में तुम्हारे बाबा ने मुझे जितना खूबसूरत दिखाया, उतना खूबसूरत किसी ने भी मुझे शूट नहीं किया।'

दूसरे दिन **सुजाता** व **बंदिनी** देखते हुए उन फिल्मों के मुख्य पुरुष पात्रों—सुजाता में अधीर तथा बंदिनी में देवन के जरिए काफी कुछ प्रकट होता नजर आया। अधीर (सुनील दत्त ने यह भूमिका की थी) तथा देवेन (धर्मेंद्र ने यह भूमिका की थी) में मुझे अपने बाबा के व्यक्तित्व का विस्तार ही नजर आता था। बिल्कुल कुलीन भद्र व्यक्तित्व, जो उनके प्यारे मृदुल स्वरूप में अंतर्निहित था—यही था बिमल रॉय। बिमल रॉय अपने काम के प्रति शांत व दृढ़निश्चयी थे तथा १० वर्ष से भी कम अवधि में बंबई में रहकर उन्होंने बंबई फिल्मोद्योग के स्वयंभू नेता होने की योग्यता हासिल कर ली थी।

कोई बाबा की फिल्मों के हीरो की बात नहीं करता था, क्योंकि वे मुख्यतः अपनी फिल्मों की कहानी महिलाओं के आसपास ही एकाग्र रखते थे (**उदयेर पाथे**, **दो बीघा जमीन** तथा **देवदास**)। बाबा की फिल्मों के हीरो बंबई संस्कृति शैली के पुरुष प्रधान सोच से लदे-फदे रहते थे। उनका रूमानीवाद तथा नफासत उनके परदे के पात्रों में फिर चाहे वह महिला पात्र हो अथवा पुरुष पात्र, बड़ी गहराई से तथा सांस्कृतिक बारीकियों के साथ उभरकर सामने आता था। महिलाओं की स्थिति के प्रति उनकी संवेदनशीलता को कोई भी आसानी से उनकी फिल्मों के लिए कथ्यों के चुनाव से ही समझ सकता है। बाबा की उन फिल्मों में, जो खूब पढ़े जाने वाले उपन्यासों देवदास, बिराज बहू, सुजाता या बंदिनी पर आधारित थी, उनमें फिल्मों का महिलाकरण साफ नजर आता है।

बिमल रॉय की लगभग सभी फिल्मों में प्रेम का एक सतत् अंतर्प्रवाह होता था, लेकिन ये फिल्में मात्र रूमानी प्रेम कहानियाँ नहीं थीं। इनके भीतर सामाजिक परिवर्तनों की एक दबी-छुपी कहानी भी होती थी। प्रेम उनके लिए अंततः वैसा ही अंतिम अस्त्र था, जैसा उन दिनों ज्यादातर प्रचंड मानवतावादियों के लिए था। बाबा का विवेक बार-बार जिस एक तथ्य की वकालत करता था, वो था हर वक्त मानवीय गरिमा बनाए रखने का। बाबा जिन दर्शकों के लिए फिल्में बनाते थे, वो तथा उनका परिवेश समान था—वही उपेक्षित दलित झुग्गी-झोपडत्री वाला वर्ग या मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग। इस परिवेश को तो बाबा अच्छी तरह जानते थे।

जैसा कि लगभग सभी प्रमुख फिल्मकारों के साथ होता है, बिमल रॉय की कहानी भी अपरिहार्य रूप से एक नैतिकता पर, लेकिन सुखांत को प्राप्त हुई, जब तक कि उन्होंने महान् त्रासदी कथाओं—देवदास, बिराज बहू तथा दो बीघा जमीन को फिर से प्रस्तुत नहीं किया। यदि उनकी तीनों व्यंग्य फिल्में—मंत्रमुग्ध, नौकरी तथा परख भोथरी साबित हुई तो केवल इसलिए, क्योंकि इसके माध्यम से उन्होंने विसंगतियों पर चोट करना ज्यादा पसंद किया बजाए देश में इस सामाजिक अन्याय के प्रति एक गुस्सा पैदा करने के, जब बाबा या उनके समकालीन फिल्में बनाया करते थे, तब तक सामाजिक प्रतिबद्धता फैशनेबल चीज नहीं थी, यह तो आगे जाकर फिल्मकारों में इस सबका फैशन चला। बाबा ने जो कुछ उस समय किया, वो संपूर्ण समर्पण, न्याय के

सिद्धांत को ध्यान में रखकर तथा पूरी जिंदगी खपाकर किया।

आज की परिस्थितियों के ठीक विपरीत अर्थात आठवें दशक की बुद्धिहीन छवियों के खिलाफ बाबा का काम कहीं अधिक महान तथा बहुआयामी था। उनका मानव मात्र में तथा मानव की भलाई में अटूट विश्वास था। उनकी यह खूबी उनकी फिल्में देखकर ही समझी जा सकती है और कोई भी उनकी फिल्मों की सरलता तथा सहजता से विचलित हुए बिना नहीं रह सकता है। इसी से तीन दशक या उससे भी अधिक समय तक बाबा की फिल्में लगातार हमारी सूक्ष्मतम, गहनतम तथा बुनियादी संवेदनाओं को छूती रही तथा इसी से वे प्रेरणा की स्रोत बनी रहीं।

☐ रिंकी भट्टाचार्य

अपने पिता की पुत्री

हमारा घर कतई फिल्मी नहीं थी। पापा हिन्दी सिनेमा के ड्रेसिंग गाउन पहनकर पाइप पीने वाले 'पापा' नहीं थे। हाँ, एक पुराना-सा ड्रेसिंग गाउन जरूर था जिसे कहीं छुपा दिया गया था। हमारे घर में समय की पाबंदी थी। कभी-कभी पापा सबसे पहले उठ जाते थे। बागीचे में एक चक्कर लगाते थे, बच्चों से उत्फुल्लित घर की सब्जियाँ तोड़ते थे और अपने लिए एक प्याला चाय बनाते थे जो हल्की चाय का पानी और नींबू हुआ करता था। घर में शांति का ऐसा माहौल था जो आज नहीं है। यह चालीस-पचास का वह दौर था जब बच्चों को बचपन बिताने दिया जाता था और घर आरामदेह घोंसलों की तरह होते थे जहाँ सामाजिक मूल्यों व जिम्मेदारी का निर्वाह किया जाता था। घर के मुखिया पापा थे जो रोजमर्रा की चीजों का ध्यान रखते थे। पूजा के कपड़े, फर्नीचर इत्यादि पसंद करना उन्हें बहुत अच्छा लगता था। मैं तो कहूँगी उनमें घर चलाने के सारे सकारात्मक गुण थे। हमारे घर के

शांति जीवन में पहला धमाका तब हुआ जब मुझे किसी से प्यार हो गया। इससे पहले कि मैं यह बात घर वालों को बताऊँ उन्हें इसका पता चल गया—एक ऐसा अपराध जिसे क्षमा नहीं किया गया। मेरे पिता के कुछ सहकर्मियों ने मेरे और बासु की बढ़ती हुई दोस्ती के बारे में मम्मी को चेतावनी दे दी थी। इस बारे में बात करने की उनकी पापा से हिम्मत नहीं पड़ी। वे अपनी बाहरी गंभीरता के लिए जाने जाते थे, विम्पोल स्ट्रीट के मिस्टर बैरेट की तरह। एक शाम, जब मैं अपनी प्रेम-मुलाकात से वापस आ रही थी, मेरी मम्मी और एक आंटी ने हमें पकड़ लिया। यह पड़ोस की चर्च में हुआ। थोथे से शब्द कहे, बस। मैं अंतिम फैसले के लिए पापा के लौटने का इंतजार करने लगी। मैं बड़ी पस्त होकर घर लौटी थी। घर पहुँचने पर मैं बांद्रा के अपने विशाल बंगले के पीछे छोटे से अध्ययनकक्ष में शांत बैठ गयी। अँधेरा होने पर भी कमरे की बत्तियाँ बुझी ही रहीं। मुझे पिताजी का सामना करने का डर नहीं था क्योंकि तब मुझे सच्चा प्यार था। मुझे तो इस नए अहसास पर ठंडा पसीना आ रहा था—अपने माता-पिता के सामने अब सिर्फ उनकी पुत्री न होकर एक महिला के रूप में खड़े होने की नयी और अनजानी अनुभूति... बड़े होने, प्यार करने की और भी अजीब अनुभूतियाँ। बचपन किशोरावस्था और सुरक्षित घर से दूर एक नये जीवन की चौखट पर खड़ी थी मैं। मेरे हाथों से सब कुछ जैसे छोटे-मोटे टुकड़ों में फिसल रहा था।

मैं यह घटना इसलिए बयान कर रही हूँ क्योंकि पापा के साथ मेरी यह पहली असली झड़प थी। मेरे लिए दोनों घटनाएँ—उस शाम जब पापा ने सदा के लिए मुझे घर से अलग कर देने की बात कही अगर मैं इस अनचाहे संबंध को जारी रखती हूँ तो—और दूसरी बात तो और भी यादगार थी जब उन्होंने 'कभी क्षमा न करने वाले घर के मुखिया' की छवि को तोड़ते हुए एक यादगार क्षण और निर्णायक पुनर्मिलन को अंजाम दिया—अपने और पापा के संबंधों की सबसे यादगार घटनाएँ हैं—उन संबंधों की जो दुखद रूप से कम समयावधि के रहे।

१९६३ में होने वाली मेरी शादी बिना माता-पिता की सहमति या स्वीकृति के हुई। कुछ महीने तक हम सेंट एंड रोड के फ्लैट में रहे जहाँ से पाली की पहाड़ियाँ स्पष्ट दिखती थीं, जहाँ पिताजी अक्सर आया करते थे। मैं सड़क के किनारे से उनकी कार की आवाज सुनती थी और खिड़की की तरफ दौड़ पड़ती थी जहाँ से गुजरती हुई कार में भी मैं अपने पापा को देख लिया करती थी। पापा ने कभी सोचा भी नहीं होगा

कि उन घरों में से किसी एक में उनकी अपनी बेटी बाहरी लोगों की तरह उनको देख रही है। माँ ने दिलेरी दिखाकर समझौते के प्रयास किये। कई बार वे मुझे और अपने नाती को बुलवा भेजती थीं इन्हीं गुपचुप मुलाकातों में से एक के बीच में पापा अनपेक्षित रूप से दोपहर में आ गये। पूरे घर में कोहराम मच गया। मुझे छिपा दिया गया, पर मेरे लाड़ले बाबला को सब भूल गये जो फर्श पर खेल रहा था। मुझे बाबा की चिर-परिचित पद-चापें सुनाई दीं। माँ पान बनाने लगी। मुझे नहीं मालूम था कि मुझे देखकर वे क्या कहेंगे या करेंगे–क्योंकि मेरे घर से अलग होने के बाद पहली बार हम मिल रहे थे। उनकी पदचापें थम गयीं फिर मुझे बंगाली में अपने पापा की आवाज सुनाई दी, "अरे यह कौन है।" फिर तो बावला उनकी गोद में था, जो अपने नाना की शर्ट की कॉलर को नोंचने में जुटा था।

उन्होंने मुझे देखा और ऐसे बातचीत की जैसे कुछ बदला ही न हो। सामान्य आवाज में उन्होंने मेरी कुशलक्षेम पूछी, फिर मेरे पति के बारे में पूछा, मैं तो जैसे आसमान पर थी। सारा तनाव, सारी चिंताएँ दरकिनार थीं। मैं एक विवाहित पुत्री के रूप में पापा की स्वीकृति पा चुकी थी। जिस शालीनता से उन्होंने बर्ताव किया उससे मेरे मन में उनकी इज्जत और बढ़ गयी। उस दिन बाद से हमार संबंध फिर से सजीव होने लगे, जब तक कि जनवरी "६६ में वे गुजर न गये।

जीवन के प्रति पापा की शालीन शैली उनकी फिल्मों में भी स्पष्ट दिखती है। उनका विनय उनके नायकों का विनय भी है। उनकी सबसे महान् फिल्म **दो बीघा जमीन** में किसान नायक शम्भू के अपने परिवार के साथ स्नेहिल संबंध-खासकर अपनी गर्भवती पत्नी के प्रति उसकी चिंता–उस ग्रामीण समाज में जज्ब नहीं दिखते, तो भी यह एक फिल्म के माध्यम से सचेतन वक्तव्य था। रूमानी दृश्यों में तो बिमल रॉय को महारत हासिल थी। इन असाधरण संवेदनशीलता के साथ फिल्माये गये दृश्यों में निर्देशक जाति, वर्ग, लिंग–सब भेदों से ऊपर उठकर नायक-नायिका को समान दर्जा देता है। **बंदिनी** फिल्म में, जो कि उनकी अंतिम फिल्म थी, हीरोइन अपने प्रेमी के चुनाव के लिए स्वतंत्र है। **बिराज बहू**, **सुजाता**, **परिणीता** और कई अन्य फिल्मों में महिलाओं की परवशता पापा की एक बड़ी चिंता के रूप में उभरती है। पचास के दशक में जब **दो बीघा जमीन** से बिमल रॉय प्रोडक्सन्स स्थापित हुआ, यह न सिर्फ उनकी प्रारंभिक फिल्मों से एक थी जिसने वेनिस पुरस्कार जीता था। बल्कि इसने अपने देश में भी मेट्रो सिनेमा में जातिभेद को तोड़ा था

जहाँ पापा की **दो बीघा जमीन** से पहले कोई भारतीय फिल्म व्यावसायिक रूप से प्रदर्शित नहीं की गयी थी। अगस्त में मेनचेस्टर गार्डियन लिखता है, "पिछले साल वेनिस समारोह में पुरस्कार जीतने वाली भारतीय फिल्म **दो बीघा जमीन** (बिमल रॉय द्वारा निर्देशित) नव-यथार्थवाद का नमूना है और यह इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि भारत से हम तब पहुँचने वाली यह अपनी तरह की फिल्म में है। और किसी संदर्भ में नहीं तो राजनीतिक दृष्टि से तो भारत एक नया देश है ही और यह बड़े अचरज की बात है कि भारतीय स्वतंत्रता के तत्काल बाद ही कोई भारतीय निर्देशक इतनी अधिक निराशाजनक फिल्म बनाये। **दो बीघा जमीन** की कहानी बड़ी करुण है (जो नगर धन-धान्य से परिपूर्ण है) ताकि वे अपने छोटे से बंगाली खेत को एक बड़ा कारखाना डालने वाले के हाथों बिकने से बचा सकें। न सिर्फ यह एक क्रूर फिल्म है बल्कि यह इतालवी नव-यथार्थवाद की शैली में है। यह एक बड़े भारतीय शहर में जीवन की परिस्थितियों का असाधरण रूप से जीवंत चित्रण है, जहाँ नियॉन की बत्तियाँ हैं, सजीली दुकानों में तरह-तरह के लुभावने सामान बिखरे पड़े हैं, सड़कों पर सोते आदमी और बैल भी इस विकृत दृश्य का एक हिस्सा हैं। यह वाकई एक यादगार फिल्म है। बहुतेरे यूरोपीय समीक्षकों ने **दो बीघा जमीन** को वर्ष की सर्वाधिक कारुणिक, सर्वाधिक यादगार त्रासदी कहा।

तीन वर्ष पहले लंदन में सत्यजीत रॉय ने पिताजी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अतीत का जिक्र किया, "शुरूआत में बिमल रॉय एक कैमरामेन थे। उनका निर्देशक के रूप में आविर्भाव जितना अनपेक्षित था उतना ही यह महत्वपूर्ण भी था। चालीस के दशक में भारतीय सिनेमा पर थियेटर छाया हुआ था। अभिनय भी स्टेज जैसा ही था। अपनी पहली ही फिल्म **उदयेर पाथे** (हिंदी में **हमराही**) से बिमल रॉय परंपराओं के जाले झाड़ने में सफल रहे और उन्होंने यथार्थवाद और सूक्ष्म संवेदनशीलता का सूत्रपात किया जो सिनेमा के लिए पूरी तरह उपयुक्त थे। निःसंदेह वे एक अन्वेषक थे।' कला और कथ्य दोनों ही दृष्टियों में भारतीय सिनेमा ने सिनेमाई गुणवत्ता की चोटी को छुआ और इसमें मेरे पिता के साथ-साथ उनके कुछ समकालीनों का भी योगदान रहा-जैसे महबूब और गुरुदत्त। उच्च-कलात्मक मानदंडों– मौलिक शैलियों और प्रासंगिक सामाजिक विषय वस्तु के प्रति उनकी जागरूकता ने पचास के दशक को ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण काल बना दिया। मैं तो अपने पिता पर लिखे इस लेख को उन्हीं के शब्दों से

समाप्त करना चाहूँगा। यह मॉस्को समारोह १९५९ में उनके जूरी वक्तव्य से उद्धृत है–'इन दिनों सिनेमा लोगों के बीच समझ विकसित करने का एक प्रमुख साधन बन गया है। हमारी पीढ़ी में जबकि प्रौद्यौगिकी संसार की दूरियों को विजित करके इसे छोटा बना दिया है, सिनेमा मानव की मदद करने वाला सबसे महत्वपूर्ण साधन हो गया है जिसके द्वारा अपनी जिम्मेदारियों और संभावनाओं को समझता है, क्रियाशीलता के नये क्षेत्रों को पहचानता है और तरह-तरह के लोगों के बीच नये संबंधों के सौन्दर्य को महसूस करता है।

सारे राजनीतिक मतभेदों के बावजूद मनुष्य सार्वभौमिक नातेदारी को महसूस करने लगा है। सारी कलाएँ इस विचार को बढ़ावा देती हैं परंतु सिनेमा का योगदान सबसे अधिक है। मानव अधिकारों के लिए संघर्ष की, यह मायने नहीं रखता कि वह कहाँ हो रहा है, अवहेलना नहीं की जा सकती। लोग इस बात से अब ज्यादा वाकिफ हैं कि मनुष्य द्वारा किया जा रहा मनुष्य का शोषण खत्म होना चाहिए कि हर तरह का युद्ध भी खत्म होना चाहिए और हर एक को मानव जीवन की त्रासदी से उबरने का प्रयास करना चाहिए। हमें यह महसूस करना चाहिए कि वास्तविक उन्नति पूरी तरह से मानव के मूलभूत अधिकारों की प्राप्ति पर निर्भर करती है... मैं आशा करता हूँ कि **डेस्टिनी ऑव् मैन** (सेर्गेई बाँडरचुक द्वारा) को सभी देशों के लोगों–सर्वसाधारण और राजनेताओं–द्वारा देखा जायेगा। और हर एक अपने-अपने सामाजिक स्तर पर इससे प्रभावित होकर एक और युद्ध टालने का प्रयास करेगा। मेरी वास्तविक अपेक्षा है कि ऐसी फिल्में हमारी बंबई में भी बनें।

यह हमारे राष्ट्रीय सिनेमा की मूलभूत छवि को बदलने में सहायत सिद्ध होगी। यह एक निर्देशक के शब्द हैं जिसकी राष्ट्रीय सिनेमा की परिकल्पना भौगोलिक सीमाओं के परे थी–जिसमें सार्वभौमिक मानवता की उस भावना का चित्रण है जिसके द्वारा **दो बीघा जमीन** संसार को भावना के एक सूत्र में बाँधती है। अगर बंबई या भारतीय फिल्म उद्योग कभी मार्गदर्शन या नेतृत्व के संकट से गुजरा था तो उसकी सबसे ज्यादा जरूरत आज है। वर्तमान में पूरा ढाँचा ही जर्जर और विखंडित हो गया। उद्योग स्वतंत्र-व्यावसायिक बाजार से अधिक कुछ नहीं रह गया है और हमारी फिल्में बिमल रॉय जैसी कालदृष्टाओं के स्वप्नों से बहुत दूर आ गयी हैं। जिस संसार में मेरे पिता रहते थे, आज का संसार उससे काफी खराब है, उस संसार से तो वह और भी ज्यादा खराब है जिसकी वह कल्पना किया करते थे।

☐ **रिंकी भट्टाचार्य**

मूल्यांकन/स्मरण

अपने फिल्म जीवन के आरंभिक चरण में, बिमल रॉय एक कैमरा-मेन थे। निर्देशक के रूप में उनका रूपांतरण जितना सार्थक था उतना ही अनपेक्षित भी। मंच-उन्मुख था, संवाद नाटकीय तथा फ्रेम के भीतर अभिनेताओं की व्यवहार-प्रणाली तक नाटकीय थी। अपनी पहली फिल्म **उदयेर पाथे** (हिन्दी में **हमराही**) में ही बिमल रॉय पुरातन परंपराओं का मकड़जाल बुहार फेंकने तथा इस यथार्थवाद एवं सूक्ष्म दृष्टि की प्रस्तावना में समर्थ थे, जो कि सिनेमा के लिए पूर्णतः उपयुक्त था। वे इस प्रकार निस्संदेह रूप में अग्रदूत थे। वे उस फिल्म में अपने शीर्ष पर पहुँच गए जो कि उन व्यक्तियों के मस्तिष्क में अभी भी प्रतिध्वनित होती है जिन्होंने उसे तब देखा था जब वह बनी ही थी। मैं **दो बीघा जमीन** का उल्लेख कर रहा हूँ, जो भारतीय सिनेमा के मील के पत्थरों में से एक बनी हुई है। अपने कैरियर के काफी शुरू में बिमल रॉय बंबई

चले गए और वहीं स्थापित हो गए। हिन्दी सिनेमा को उनका योगदान सर्वाधिक विशिष्ट था।

☐ सत्यजीत रॉय

देवदास का चरित्र पूर्णतः परम्परा है उसमें विद्रोह करने का साहस नहीं है। वह पार्वती से असीम रूप से प्रेम करता है। तो भी वह उसे तथा स्वयं को प्रताड़ित करता है... क्योंकि वह स्वयं को सुनिश्चित करने के लिए कुछ भी नहीं कर सकता और न ही प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध कुछ कर सकता है।

कभी किसी ने उल्लेख नहीं किया कि बंबई की बस्तियों में शूटिंग करते हुए स्वयं अपने मोहन स्टूडियो के पिछवाड़े या किसी अन्य चुने हुए बाहरी स्थान पर विमल रॉय ने ठेठ देहाती बंगाल का लोकाचार खड़ाकर दिया। वे एक बार भी वहाँ नहीं गये।

मेरे लिए उनके साथ काम करना एक सीख थी। अपने गढ़न के दौर में ऐसे निर्देशक के साथ काम करना महत्वपूर्ण था जो आपको आहिस्ता-आहिस्ता चरित्र की त्वचा के भीतर ले जाता है। आज हमारे पास संस्थान हैं, जो सिनेमा, अभिनय आदि सिखाते हैं। उस समय ये हमारे पास नहीं थे। बल्कि हमारे पास विमल रॉय जैसे लोग थे। इसके साथ-साथ अभिनेता के रूप में मेरा अपना अन्दाज। **देवदास** के निर्माण को लीजिए। अपनी भूमिका करते समय अक्सर सवाल कुछ भी करने के बजाय "कुछ नहीं करने" का होता था। शुरू में विमल रॉय को लगा कि गीतों को छोड़कर... इस पर कहानी पर की जाने वाली बैठकों में बहस की गई थी जो कि बिमल रॉय प्रोडक्शन का एक नियमित अंग थीं। बिमल रॉय बैठकी-मिजाज के आदमी थे। वे पटकथा पर उन्मुक्त बहस होने देते थे। बहस में गीत विवादास्पद मुद्दे बन गए। जल्द ही गीत 'मितवा' ध्वन्यांकित हुआ, इसका मिजाज वैसा ही मादक था:

"मितवा...... मितवा......
लागी रे......
एक-एक चुप में
सौ-सौ बैना
रह गये आँसू
लूट गये राह... मितवा, मितवा... लागी रे..."

अंतिम निर्णय में गीत रख लिया गया।

इसके पश्चात १९५८ में उन्होंने **मधुमती** बनाई। कोई भी अन्य फिल्म लीजिए, **बिराज बहू, परिणीता, सुजाता, बन्दिनी, दो बीघा जमीन** सभी पुरस्कार विजेता फिल्में। पुरस्कार विजेता होने के अतिरिक्त वे लोगों में असीम रूप से लोकप्रिय थीं--हमारे समाज के सभी वर्गों में जो एक दुर्लभ संयोग है। हमारे सिनेमाघरों से जो गायब था वह था देहाती दर्शक, फिल्मी-कैमरे की आँख बेहद शहरी

थी। बिमल दा व्याकरण चयनात्मकता की थी और उन्होंने आम आदमी को प्रतिक्रिया के लिए बहुत जगह छोड़ी थी।

जैसे कि अभिनय के लिए वे इसे बहुत-कुछ अभिनेता पर ही छोड़ते थे कि वह अपने लिए उपाय करे... चरित्र, या दी हुई परिस्थिति में चरित्र का मानम हमारे सामने आ जाये।

मैं विमल रॉय को उनके समकालीनों के सिर और कंधों से ऊपर स्थान देता हूँ। मैं उनके जैसे हरफनमौला व्यक्ति से आज तक नहीं मिला। मैं उनकी कमी महसूस करता हूँ।

☐ **दिलीप कुमार**

... **उदयेर पाथे** की भव्य सफलता के पश्चात कई लोगों ने इसके श्रेय का दावा किया... कई, बिमल रॉय के अतिरिक्त। जो इस फिल्म की भारी सफलता का श्रेय लूटने का दूसरों का यह सारा नाटक देखते रहे। मुझे लगता है कि फिल्म की यह सफलता मुख्यतः नायक के श्रेष्ठ चरित्र के कारण थी—अनूप पाठक की भूमिका राधा मोहन भट्टाचार्य ने बहुत अच्छी तरह से की। फिल्म के नायक को एक साधारण लेखक/पत्रकार बनाना जो इतना निष्कपट था कि अपने विश्वासों की खातिर उन धनी एवं शक्तिशालियों के आगे भी अड़ जाता था जो श्रमिक वर्ग का शोषण करते थे, सचमुच फिल्म की सबसे बड़ी खूबी थी।

फॉसिल (अजानगढ़) उनकी अगली फिल्म थी। सुबोध घोष के उपन्यास पर आधारित, जो कि पहले से ही प्रसिद्ध था। यह फिल्म के लिए आसान कहानी नहीं थी... किन्तु बिमल रॉय का निर्देशन सदा की भाँति निर्दोष था। कुछ समय बाद वे बंबई चल दिये... जहाँ कभी रम नहीं पाये। वे ग्लैमर के उस संसार में अनुपयुक्त थे। ऊपरी चतुराई नामक जिस चीज का उनमें अभाव था, उसकी पूर्ति उनकी सरलता करती थी।

दो बीघा जमीन ने उन्हें बंबई में सुरक्षित रूप से जमा दिया। बिमल रॉय में दो असाधारण गुण थे। पहला था किसी भी कहानी को सरलता से कह जाना- वे जटिल कहानी को भी बोधगम्य बना देते थे... उनकी **उदयेर पाथे** लीजिए। उनकी निर्देशन-तकनीक स्वतः स्फूर्त थी। इस फिल्म का सर्वाधिक वैध सामाजिक कथन नायक के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया जो कि पूँजीवादी वर्ग को मर्यादा तथा सम्मानपूर्वक चुनौती देता है। निर्देशक के लिए अधिक आसान रास्ता धनवान-विरोधी नारे लगवाना या झंडे लहराना होता... इससे निर्देशक

सम्पन्न वर्ग को आसानी से नीचा दिखा सकता था। इसके बजाय उन्होंने मुख्य नायक के माध्यम से हमारे समाज के वर्ग-विभाजन के प्रदर्शन का गंभीर रास्ता चुना। सम्पन्न मालिक को तर्कपूर्ण उत्तर देकर, अपनी स्थिति से समझौता किये बिना, नायक उस समय के यौवन का आदर्श बन गया।

इस निर्देशक का दूसरा महान् गुण अपने अभिनेता तथा अभिनेत्रियों से बिना चूके भव्य प्रदर्शन करा लेने की उनकी योग्यता थी। पुनः **उदयेर पाथे** के नायक को लीजिए... राधा मोहन भट्टाचार्य—वे इस फिल्म में जैसे चमके वैसे पहले कभी नहीं या मीना कुमारी को लीजिए जिन्हें बिमल रॉय ने **परिणीता** के लिए लिया-वे परिपूर्ण चयन थीं और उनके बारे में कौन जानता था कि उस समय तक वे एकदम नवागंतुक थीं?

विमल रॉय का दूसरा पहलू सिनेमा की सौन्दर्य शास्त्रीय कसौटी के प्रति उनकी गहन आदर भावना थी-जो उन्होंने न्यू थियेटर्स में सीखी थी। वे आसानी से बंबई के ग्लैमर को भेंट चढ़ जाते परन्तु उन्होंने अपने शिल्प की पवित्रता बनाये रखने का चुनाव किया- कभी समझौतावादी नहीं... उन्होंने सब-कुछ बनाया, मधुर प्रेम से लेकर प्रेत-कथा (**मधुमती**) तक, किन्तु एक बार भी उन्होंने अपनी विशुद्ध, अभिजात शैली का त्याग नहीं किया।

एक अन्य पहलू था- अधिक व्यक्तिगत-बिमल रॉय को अपने जीवन काल में उल्लेखनीय श्लाघा मिली... मैंने यह स्वयं देखा है। निर्देशकगण आहत हुए हैं, श्रद्धा-पात्र भी, परन्तु उस प्रकार नहीं, जैसे बिमल रॉय थे... श्रद्धा-पात्र... वह एक दुर्लभ संयोग था, इस उद्योग के इतिहास में सचमुच अनूठा।

☐ **प्रेमेन्द्र मित्र**

फिल्म-उद्योग में, मैंने जिन लोगों के साथ काम किया है और जिन्हें उनके काम के लिए जाना है वे हैं मेहबूब खान और बिमल रॉय। मैं फिल्म-उद्योग में जो कुछ हूँ, उसके लिए मैं बिमल रॉय का अत्यधिक ऋणी हूँ क्योंकि उन्हीं से मैंने उनकी कैमरा-प्लेसिंग, लाइटिंग, दृश्य के भाव का सृजन तथा अपने अभिनेताओं से जो सूक्ष्म प्रदर्शन उन्होंने प्राप्त किया, के द्वारा बहुत कुछ सीखा है। मेरा एकमात्र दुःख यही है कि मैंने उनके साथ केवल एक **सुजाता** नामक फिल्म में अभिनय किया है। मुझे इस

महान् निर्देशक के साथ बहुत सारी फिल्मों में काम करना अच्छा लगता।

☐ **सुनील दत्त**

शरतचंद्र के प्रेमियों ने तर्क दिया है कि बिमल रॉय के मूलपाठ से विचलन उसकी अवयवी संरचना के प्रति आमूल परिवर्तनवादी तथा जैवीय महत्व के मामलों में थे। यह व्यक्ति-चित्रण की भव्य कोटि है, विशेष रूप से अशोक कुमार और मीना कुमारी के जो इस पर भी **परिणीता** जो जीवन के भ्रम से निवेशित करती है। और **देवदास** को भी यहाँ पुनः बरुआ के दिनों में, शरत् की क्लैसिकी कृति के सामाजिक अधिस्वर सामयिक अनुभव का आकर्षण खो चुके थे। परंतु एक जमींदार के बेटे का पड़ोसी निर्धन परिवार की पुत्री से नक्षत्ररेखित प्रेम आदर्श सिनेमाई सामग्री प्रदान करता है। बिमल रॉय का **देवदास** सामाजिक शक्ति में जो खोता है उसे मानवीय प्रभाव में मापातीत रूप से अर्जित करता है। ... एक अवसादकारी धुंधलका आख्यान पर राज्य करता है। वाचाल निस्तब्धता देवदास के जीवन में खालीपन को प्रतिध्वनित करती है, मूक तड़ित की भाँति। बिमल राय आख्यान में ऐसी भावात्मक तीव्रता तथा उद्बोधन शक्ति अंतर्वेशित करते हैं कि हम देवदास के साथ संतप्त होते हैं तथा हमारा एक अंश उसके साथ मरता है।

देवदास भारतीय सिनेमा के लिए एक अवसादपूर्ण तथा साथ-साथ गौरवशाली क्षण को संघटित करता है। अब इस प्रवीण शिल्पकार में एक परिवर्तन आता है। यदि देवदास में पीड़ा की निम्नतम गहराई कुरेदी गई है तो उनकी आगामी **मधुमती** प्रचलित रुचि के साथ समझौता है, सितारों के बंबईया फार्मूले गीतों तथा उनके अनुरूप गढ़ी गई कहानी की तर्ज में। यह एक अप्रतिफलित प्रेम कथा है, भव्य शिल्पकारिता से सुविचारित। पुनर्जन्म का रहस्य प्रेमी को दो लड़कियों तथा एक समरूप दिखाई देने वाली प्रेतछाया से भेंट के साथ अनसुलझा रह जाता है। किंतु रम्य ग्रामीण पृष्ठभूमि, सम्मोहक मेला दृश्यावली, भुतहा संगीत नयन और श्रवणन्द्रि के लिए एक भोज हैं।

क्रमशः बिमल रॉय के भीतर का कवि तथा चित्रकार उनके दार्शनिक तथा समाज-सुधारक पर गीतमय प्रस्तुतियों, **सुजाता, परख, बंदिनी** की शृंखला में छाता चला जाता है। अछूत सुजाता तथा ब्राह्मण-वंशज के उसके प्रति प्रेम की कथा दक्ष, विलम्बित उपाख्यानों की शृंखला में, बिना उस आत्मदया में पड़े की गई है जो हिंदी फिल्मों मे

समान संदेशपूर्ण कृतियों का नाश करती है। गीत का उपयोग किया गया है किंतु अधिकांशतः पृष्ठभूमि के लिए। मार्क ट्वेन की किसी कथा का स्मरण कराती **परख** भी, कैसे धन का लालच व्यक्तियों को परिवर्तित कर देता है इस पर एक मजेदार व्यंग्य, आंगिक प्रहसन में अधःपतित होने नहीं दिया गया है।

☐ बी.के. करंजिया

'मैं अब एक फिल्म तथा एक भूमिका पर आती हूँ जो कि मेरे कैरियर में सरलतापूर्वक सबसे अधिक अविस्मरणीय हैं। बिमल राय की **दो बीघा जमीन** वह फिल्म थी जिसने मुझे ऊपर उठाया, मेरी तथाकथित **देवी** छवि से तथा **सामाजिक** फिल्मों में प्रथम अवसर दिया। जब मैंने इसमें काम करना आरंभ ही किया था तभी मुझे एक सुनिश्चित अनुभूति मिली कि यहाँ कुछ सामान्य से अलग तथा सनसनीपूर्ण है। बलराज साहनी और मैं, जैसा कि सिने-दर्शकों को स्मरण है, फिल्म में एक देहाती युगल की भूमिका करते हैं। अपने लम्बे कैरियर में पहली बार मैंने इस फिल्म में घाघरा-चोली पहने थे। वेशभूषा प्रसंगवश **फैन्सी शॉप** से नहीं मँगाये गये थे, बल्कि पुराने, या चिथड़े , जो मुझे दिये गये, बंबई के चोर बाजार से थे। मैं पक्की देहातिन थी किंतु इतना याद करती हूँ कि कैसे कलकत्ता में फिल्माई गयी एक बस-सवारी की दृश्यावली में जब मैं अपनी नाखून पॉलिश छुड़ाना भूलगई थी और बस में कुछ यात्री इसका पता लगने पर उत्तेचित हो गए तथा उन्होंने मेरी पहचान पर शर्तें लगाना आरंभ कर दिया।

☐ निरूपाराय

एक बात जिसने बिमल रॉय की सहायता की वह थी कैमरामैन के रूप में उनका आरंभिक अनुभव। उनके विषय-चयन में भी एक प्रकार का आभिजात्य था... एक सशक्त टिप्पणी अंत में हो सकती थी किंतु उनका निरूपण अत्यंत मृदु था। उनकी **मधुमती** में भी जो सीधे सामने की पंक्ति के दर्शकों तक पहुँचने वाली कृति थी, वहाँ भी उनके निरूपण पर एक प्रकार की संभ्रात शैली का वर्चस्व था। फिर निश्चिततः उनका प्रशिक्षण। मैंने बहुत कुछ सीखा, सचमुच बहुत कुछ, प्रकाश और छाया का उपयोग तथा एक साधारण, छोटे सेट को बहुत अधिक करके दिखाने के संबंध में, जिसे गुरुदत्त ने भी ग्रहण किया। तीन स्पॉट्स और एक स्तंभ तथा शेष प्रकाश-संयोजन से कर लिया जाता

था... निस्सीमता का अपार प्रभाव अविरल प्रकाश-धारा से पैदा हो जाता था... जबकि वस्तुतः वह कुछ भी नहीं था। राजकपूर विपरीत छोर थे, मेहबूब भी। वे विशाल वस्तुएँ खड़ी करते थे और उन्हें और बड़ा दिखने वाला बना देते थे।

बिमल रॉय अभिनेताओं के साथ अत्यंत श्रेष्ठ थे। उन्होंने कभी उन पर थोपा नहीं, कभी उनके लिए अभिनय नहीं किया—चार्ली चैप्लिन के विपरीत। चैप्लिन सारी भूमिकाएँ करते, एक-एक शब्द बताते और अपने अभिनेताओं से उनका अनुकरण चाहते थे... और इसी प्रणाली का कुछ सीमा तक अनुकरण राजकपूर तथा मेहबूब द्वारा भी किया गया, बिमल रॉय द्वारा नहीं। श्याम बेनेगल भी अभिनय नहीं करते। मुझे विश्वास है कि गुरुदत्त ने भी कभी अपने अभिनेताओं को नहीं दिखाया कि अभिनय ऐसे करें। अब मैं इसका अनुकरण अपने अभिनेताओं के साथ करता हूँ। मैं दृश्य को समझने के लिए अभिनेताओं को तरीके तथा साधन समझाता और सुझाता हूँ... किंतु मैं अभिनय नहीं करता। बिमल रॉय ने नहीं किया... वे इसके लिए महान थे। वे अभिनेताओं को परख सकते थे... चाहे वे दिलीप कुमार हों, मीना कुमारी अथवा वैजयंतीमाला—सभी ने उन्हें अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन दिया।

मैं सोचता हूँ कि वे जैसी मृदुता से उन्हें संभालते थे, यह मुख्यतः उस कारण से था।

□ शशि कपूर

वे चुपचाप काम करते थे। यहाँ तक कि पटकथा भी उनके सहयोगियों द्वारा पढ़ी जाती थी। उस व्यक्ति को काम करते देखना एक विस्मयकारी अनुभव था... एक कामगार होने के अतिरिक्त-एक बेहद कठोर कामगार जो पूर्णता की प्राप्ति के लिये कुछ भी बाकी नहीं रखता था—कई बार स्वास्थ्य अथवा धन के मूल्य पर। बिमल रॉय, नितिन बोस की भाँति अकेले निर्देशक थे जिन्होंने उन आरंभिक दिनों में अनुभव कर लिया था कि सिनेमा एक प्रौद्योगिकीय माध्यम है।

वे फिल्म निर्माण के एक सामूहिक कर्म होने में दृढ़ विश्वास करते थे। इसमें प्रबल आस्था रखते थे। न्यू थियेटर्स आज के स्टूडियो जैसा नहीं था। हम ट्रॉम-बस से यात्रा करते थे किंतु हमारे निर्देशक अपनी जर्मनी बी.एस. डब्ल्यू. कार में टॉलीगंज में हमारी प्रतीक्षा करत रहते। मैं ट्रॉम से नीचे उतरता और उनकी कार मुझे पकड़ लेती। यह आज सोचा नहीं जा सकता। वह प्रातःकाल रहा होगा—आठ या आसपास। स्टूडियो

पहुँचने पर हमें सेट को प्रकाशित करना आरंभ करना था। उसका शीर्ष एक कोण पर रखो और सुबह का बड़ा हिस्सा प्रकाश-व्यवस्था को अर्पित कर दो। एक बजे विराम लो, दोपहर का खाना खाओ और वापस प्रकाश के लिए। शायद चार बजे वे तैयार थे और एक शॉट लिया गया। हाँ, वे धीमे थे और संभवत: आज हम उस प्रकार ही विलासिता का निर्वाह और प्रकाश व्यवस्था पर एक पूरा दिन व्यय नहीं कर सकते। परंतु मैं जो कह रहा हूँ वह काम के प्रति उनकी निष्ठा है, उनका पूर्णता–बोध कई बार उनसे उनका बेहतर प्राप्त करता, एक बार फिल्म बन जाने पर परदे कर उत्कृष्ट परिणाम सहित। दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष–जैसा मैंने उल्लेख किया, उन्होंने तथा नितिन बोस ने फिल्म को एक प्रौद्योगिक माध्यम के रूप में समझा था... यदि हम उन पुरातन उपकरणों की बात करें जिनका उपयोग करते थे, हम सारी रात बात कर सकते हैं कि कैसे बिमल रॉय अथवा नितिन बोस ने उन समस्याओं पर काबू किया। हम उस संबंध में बात नहीं करेंगे–केवल–वे पूरे मन से सिनेमा के एक प्रौद्योगिक माध्यम होने में विश्वास करते थे। मैं विज्ञान का विद्यार्थी–स्वभावत: मैंने भी इसमें विश्वास किया–किंतु यह आश्चर्यजनक है कि कैसे सिनेमा के उस आरंभिक चरण में भी इन दो निर्देशकों ने इसे समझ लिया था। उनकी सभी फिल्मों में–चाहे न्यू थियेटर की कृतियाँ हों अथवा वे जो उन्होंने बंबई में बनाईं, सदा ही तकनीकी रूप से कुछ न कुछ रोमांचकारी कर गुजरने का ईमानदार प्रयास था। एक उदाहरण उनका टैगार के गीत कर चित्रांकन था: 'चांदेर हाशी' (**उदयेर पाथे**) नुजल ऑइल के छिड़काव से–चाँदनी का प्रभाव–किसी ने इस तरह से नहीं सोचा था कि नुजल ऑइल का एक हल्का छिड़काव धूमिलता का वह प्रभाव उत्पन्न करेगा–उन्होंने इसका प्रयोग किया और शानदार ढंग से किया। तब से प्रत्येक व्यक्ति यही कर रहा है... इस अर्थ में वे अग्रदूत हैं। आज हमारे पास रंगीन फोटोग्राफी है किंतु अभी भी मैं कोई अंतर नहीं पाता–वास्तव में कई बार रंग का दुरुपयोग किया जाता है... उनके गीत-चित्रण के अतिरिक्त नायक-नायिका को दूरी पर बैठा कर जो–कि सौंदर्यशास्त्र के एक मुद्दा है–मैं कहना चाहता हूँ कि पुरातन उपकरणों के साथ काम करते हुए तकनीकी-बोध, प्रतिभापूर्ण था। वे इसमें प्रवीण थे, निस्संदेह। जिस प्रकार उन्होंने टैगोर के गीतों सहित बंगाली लोकजीवन को परदे पर उतारा, पहले कभी नहीं किया गया था।

विषयवस्तु के उनके चयन में साहित्य ने मुख्य भूमिका निभाई।

साहित्य से मेरा तात्पर्य कई वस्तुओं है–मेरा तात्पर्य है चरित्र-निरूपण, कथावस्तु, सभी चीजें। वे साहित्य के पारखी नहीं थे–उन्होंने एक महान् पाठक होने का भी दिखावा नहीं किया। उन्होंने इसे निस्संकोच स्वीकार किया... और एक अच्छे पटकथा लेखक को इस कार्य के लिए रखा। पटकथा-लेखकों पर उनकी इस निर्भरता के कारण कई बार उनके काम की क्षति भी होती थी लेकिन यह कुछ इस तरह होता था–विमल रॉय अपने लेखकों को पूरी स्वतंत्रता देते थे... परिणाम चाहे जो हो। उनके बंबई अध्याय में **दो बीघा जमीन** द्वारा एक बड़ा परिवर्तन लाया गया। यदि मैं नाम लेता हूँ–आलोचना के लिए कोई मुद्दा बन सकता है, किंतु मैं अब ६६ वर्ष का हूँ, अतः मैं आलोचना की चिंता नहीं करता...–लेकिन जो काम उन्होंने बलराज साहनी से लिया–और **दो बीघा जमीन** में बलराज की अदाकारी उत्कृष्ट थी। आज आपके पास ओमपुरी तथा अन्य हैं जो अक्सर ग्रामीण चरित्र करते हैं... उनके अभिनय में नाटकीयता है जो बलराज साहनी के काम में पूरी तरह से अनुपस्थिति थी।

उन्होंने **दो बीघा जमीन** का अधिकांश कलकत्ता की गलियों में नये ऐरीफ्लेक्स कैमरे से शूट किया-पहला ऐरीफ्लेक्स भारत में पी.एन. रॉय द्वारा लाया गया था। और क्या प्रतिभापूर्ण काम उन्होंने किया–उन्होंने हमें सिखाया कि इस हल्के कैमरे का उपयोग कैसे करना चाहिये हम जो आठ टन वजनी डेब्री कैमरा काम में लाते थे उसे उठाने के लिए आठ आदमी लगते थे, के पश्चात् इस कैमरे ने फिल्म निर्माण की संपूर्ण अवधारणा में क्रांति ला दी। और वे बिमल रॉय थे जिन्होंने हमें नेतृत्व दिया। एक तकनीकविद के रूप में उन्होंने इस कैमरे की संभावनाओं को समझा तथा उसका भरपूर उपयोग किया–आज यह वही कैमरा है जिसे हम काम में लाते हैं।

दो बीघा जमीन–इस फिल्म में एक-एक चरित्र, उनका शॉट लेना हमारे लिए यह अविश्विसनीय अनुभव था। नवीनता की बात करें–बिमल रॉय वह नवीनता लाने वाले थे। उन्होंने भानु बैनर्जी के साथ **बड़ी दीदी** के लिए एक गीत साईकिल पर लिया। शरत्चंद्र की एक और कथा–शरत्बाबू उन दिनों व्यक्तिगत रूप से एक बग्घी में बैठकर न्यू थियेटर्स आते थे... बिमल रॉय का चिंतन बहुत अलग था। उन्हें यह गीत साईकिल पर चित्रित करना था। मैं मौजूद नहीं था लेकिन मैंने सुना कि उन्होंने कैसे गीत को शूट किया। हमारे पास उन दिनों कई विदेशी कारें थीं, उन्होंने एक अच्छी स्प्रिंग ली, उसे झटके बचाने के

लिए रखा और साईकिल-दौड़ चित्रित की जबकि वास्तविक शहरी पृष्ठभूमि दोनों ओर पीछे छूटती जा रही थी। कैमरे की यह चालाकी कोई नहीं पकड़ पाया। इसे मैं नयापन कहता हूँ।

बिमल रॉय की **उदेयर पाथे** ने निस्संदेह इस देश के सिनेमा में क्रांति की। इसके पूर्व हमारे पास ऐसे साहसी कथानक नहीं थे, ऐसे शॉट लेना, अथवा अभिनय तथा संवाद थे यह सबके होठों पर थी। लोग दायें, बायें तथा बीच में इस फिल्म का उल्लेख करते थे। मुझे हमारे सामाजिक तथा सांस्कृतिक तथा जीवन पर ऐसा और प्रभाव याद नहीं आता।

हम भूल चुके हैं कि फ्रेम पर प्रभाव कैसे उत्पन्न किया जाये जैसा कि इन निर्देशकों ने हमें दिखाया था। अजानगढ़ में एक महाराजा का महल दिखाने के लिए उन्होंने कुल मिलाकर इतना किया कि एक विशाल मेहराब बनवाई। यह उनकी कैमरा-स्थिति आदि थे जिन्होंने पर्दे पर एक अपूर्व भव्यता उतार दी थे आज पुनः, एक लघु रूप में केरल का सिनेमा सिनेमाई उत्कृष्टता के लिए वही भावना वापस ला रहा है जो हमारे पास बिमल रॉय के दिनों में थी।

वे, जैसा मैं आज चालीस वर्ष बाद भी कहता हूँ, एक अग्रणी शिल्पकार थे, एक सच्चे गुरु थे।

☐ तपन सिन्हा

नितिन बोस की ही तरह, बिमल रॉय भी शुरू में कैमरामेन थे। कैमरामेन के रूप में उनकी प्रारंभिक फिल्मों में से एक **देवदास** (कुंदनलाल सहगल के साथ हिन्दी रूपांतर) फोटोग्राफी के लिहाज से उत्कृष्ट फिल्म थी। उन्होंने न्यू थियेटर्स में प्रमथेश बरुआ द्वारा बनाई गई सारी फिल्मों में शूटिंग की।

१९४४ में उन्हें अपनी खुद की फिल्म निर्देशित करने का अवसर मिला। यह फिल्म थी **उदयेर पाथे** जिसमें सभी कलाकार नए थे। **उदयेर पाथे** पूँजी व श्रम के टकराव की सामयिक विषयवस्तु पर बनी थी और काफी सफल रही। उन्होंने इतनी ही सफलता के साथ इसका हिन्दी रूपांतर **हमराही** भी बनाया। उन्होंने **अजानगढ़** और **पहला आदमी** भी बनाई। आखिरी फिल्म अब भी भारतीय पर्दे पर सुभाषचंद्र बोस की भारतीय राष्ट्रीय सेना का सर्वाधिक यथार्थपूर्ण प्रदर्शन माना जाता है। बंबई आकर उन्होंने बॉम्बे टॉकीज के लिए आँसूओं में भीगी फिल्म **माँ** बनाई। उन्हें जल्द ही महसूस हुआ कि जिस तरह की फिल्में वह बनाना

चाहते हैं, उसके लिए उन्हें खुद निर्माता बनना होगा।

बिमल रॉय प्रोडक्शन्स के बैनर के नीचे उन्होंने जो पहली फिल्म निर्मित की वह थी **दो बीघा जमीन** जो भारतीय पर्दे पर कलात्मक और यथार्थवादी रूप से एक ऐतिहासिक घटना थी। उन्होंने **दो बीघा जमीन** को बचाने के लिए संघर्ष करते किसान की कहानी को बड़ी सादगी और गरिमा के साथ चित्रित की।

दो बीघा जमीन से **बंदिनी** तक बिमल रॉय ने उद्देश्यपूर्ण, यथार्थवादी व कलात्मक गुणवत्ता से भरपूर श्रेष्ठ फिल्में बनाई।

भारतीय सिनेमा को उनके योगदान की पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे महान् व्यक्तियों ने तारीफ की व कई अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों में उनकी सराहना की गई।

☐ **वी .पी . साठे,** आलोचक

१९६० में जब मैं रवीन्द्रनाथ टैगोर की **क्षुधित पाषाण** बना रहा था, बिमल दा किसी काम से कलकत्ता आए। वे न्यू थियेटर्स आए जहाँ मैं काम कर रहा था। सेट पर उस दिन मैं, मेरी पत्नी अरुंधती मुखर्जी और अन्य कलाकार एक सीक्वेन्स शूट कर रहे थे जिसके फ्रेम की पृष्ठभूमि में मेहराब महत्वपूर्ण थे। यह एक क्रेन शॉट था, परंतु हम मेहराबों से संतुष्ट नहीं थे खंडहरों का वैसा प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पा रहा था जैसा मैं चाहता था। बिमल दा चुपचाप बैठे थे और लगातार सिगरेट पीते हुए यह सब देख रहे थे। काफी समय हमें देखने के बाद वे सहसा आगे आए और मुझसे पूछा: इस क्रेन की ऊँचाई कितनी है? मैंने उन्हें बताया कि इसकी ऊँचाई तेरह फुट है।

उन्होंने इसे दस फुट तक नीचे करने को कहा और तीन फुट तक पीछे लेने को कहा। फिर उन्होंने प्रकाश-व्यवस्था करने वालों से पृष्ठभूमि में **किकर** लाइट्स रखने को कहा। उनका तरीका इतना शांत और निश्चित अधिकार का था कि उन्होंने पूरे दृश्य को महसूस कर लिया था बिना क्रेन पर चढ़े या बिना कैमरे से देखे और यह उनके प्रचुर तकनीकी ज्ञान व इस विधा में विशेषज्ञता के कारण संभव हुआ। मुझे यह घटना अच्छी तरह याद है और मैं इसे आज सिनेमा से जुड़े लोगों को इसलिए बताना चाहता हूँ क्योंकि इस घटना ने मुझे इस उद्योग के सच्चे कलाकारों में से एक के संपर्क में लाया जिसके पास वह अंतर्दृष्टि थी जो हममें से कइयों के पास नहीं है।

उनकी फिल्मों में से मुझे **परिणीता** सबसे अच्छी लगी। मीना कुमारी और अशोक कुमार से उन्होंने इतना अच्छा अभिनय करवाया, **गोरे गोरे हाथों** में गाने को इतना अच्छा चित्रित किया यह हिन्दी सिनेमा की अनुपम कृति है।

□ तपन सिन्हा

"मैंने **उदयेर पाथे** और हिन्दी रूपान्तर **हमराही** दोनों फिल्में देखीं। मैं **उदयेर पाथे** से प्रभावित हुआ जब १९४४ में रिलीज होने पर इसे मैंने देखा . . . तब मैं उनसे मिला नहीं था। मैं उनसे बाद में मिला, जब वे बॉम्बे टॉकीज में आए जहाँ मैं पहले से ही काम कर रहा था, वे **माँ** बनाने आए। शुरू में मैंने उन्हें अभिमानी समझा। जब भी मैं उनका अभिवादन करता था, वे मेरी तरफ नहीं देखते थे और मुझे ऐसा महसूस होता था जैसे वे मेरी उपेक्षा कर रहे हों। यह कई बार हुआ कि मैं अभिवादन करता था और वे जवाब तक नहीं देते थे।

फिर १९५४ में मैं **इंस्पेक्टर** को निर्देशित कर रहा था और वे भी मोहन स्टूडियो में आ गए थे। एक दिन मैंने उन्हें आते हुए देखा और अभिवादन किया। उन्होंने मेरी तरफ नहीं देखा और पास से गुजर गए। उस दिन मैं उनके पीछे-पीछे गया और मैंने उन्हें पकड़ लिया। मैंने कहा "बिमल दा, तीन साल से मैं आपका अभिवादन कर रहा हूँ और आप हैं कि जवाब तक नहीं देते . . . मैं नमस्ते या नमस्कार कहता हूँ और आपको पता भी नहीं चलता।"

उन्होंने कहा: "माफ करना शक्ति, मुझे अहसास ही नहीं हुआ, मैं ख्यालों में गुम था।"

मैंने कहा: "ठीक है बिमल दा, आगे से हम जब भी नमस्कार किया करें आप जवाब देना नहीं तो हम सबको बड़ा खराब लगता है।"

उसके बाद उन्होंने मुझसे छोटे भाई की तरह व्यवहार किया। हम कई संगठनों में साथ थे। फिर बेरुत फिल्म समारोह में मैंने जाहिर है उनकी सभी फिल्में देखीं। तब बेरुत में उनकी **बंदिनी** थी और **मेरी कश्मीर की कली**। उन्होंने यह फिल्म देखी और शायद वह मेरी पहली फिल्म थी जो उन्होंने देखी थी। उन्होंने और बऊ दी (श्रीमती रॉय) दोनों ने मेरी फिल्म की काफी तारीफ की। "मैं नहीं जानता था कि तुम इतनी अच्छी फिल्में बनाते हो" उन्होंने कहा। वे मेरे बड़े भाई की तरह थे। एक फिल्मकार के रूप में वे पूरी तरह समर्पित कलाकार थे और इस

उद्योग के सभी जान-पहचान के लोगों में सबसे अच्छे व्यक्तियों में से एक थे।"

☐ शक्ति सामंत

न्यू थियेटर्स अँग्रेजी मुहावरे के बतौर सफेद हाथी रूपी कंपनी थी-एक विशाल साम्राज्य-अनगिनत लोग वहाँ काम करते थे -केंब्रिक के सफेद-सफेद कुरतों से अपना शरीर ढँके हुए असंख्य लोग वहाँ चलते-फिरते दीख पड़ते थे। न्यू थियेटर्स की मासिक यूनिट का खर्च ६४,०००/- रुपये प्रति इकाई था। एक इकाई पंकज मल्लिक के अधीन थी और दूसरी रायचंद बोराल के अधीन। श्री सरकार नंबर २ स्टूडियो को तो गिनते ही नहीं थे -वह उनकी निजी वस्तु की भाँति था। एक बार जब बिमल दा ने स्टूडियो में पूछा: रॉ स्टाक कहाँ रखा जाता है? किसी ने लापरवाही से कह दिया 'तहखाने में' अब किसी को यह चिन्ता नहीं थी कि तहखाने का तापक्रम सही है अथवा नहीं। ......तथापि......मैं जब १९४० में **प्रतिश्रुति** के लिए आया तब मेरी बिमल दा से भेंट हुई थी। उन्होंने मुझे देखा और मुस्कुराये। 'शूटिंग'-उन्होंने कहा। मैंने कहा-हाँ......बिमल दा ने अचानक मुझे पाँच सौ रुपये दिये... उन दिनों लोग लिफाफों के भीतर रखकर रुपये देते ...... 'जाओ यहाँ क्रिकेट खेलो-उन्होंने मेरी उलझनपूर्ण नजर को देखते हुए कहा। हमारा क्रिकेट का मैदान बिमल दा के कमरे के ठीक सामने था-मेकअप वाले कमरे के सामने। अभि भट्टाचार्य, रबिधर और मैं चले गये और क्रिकेट का सामान, बैट आदि लाये। बिमल दा क्रिकेट नहीं खेलते थे। वे हम लोगों को खेलते हुए घंटों देखते रहते थे -और फिर कहते थे -तुम लोग कल तो शूटिंग कर रहे हो? क्या तुमने अपने संवाद याद कर लिए हैं? मैंने अपना सिर हिलाया और कहा-नहीं। आप जानते ही हैं-मैंने कभी एक्टिंग सीखी नहीं थे उन दिनों सजावट का काम भीषण था। हम लोगों को लाल, काले, पीले रंग से पोत दिया जाता था और हमारे जमाने के आर्ट डायरेक्टर, डायरेक्टर से सलाह-मशविरा करते थे और फिर वेशभूषा के रंग आदि अंतिम रूप से चुनते थे , वे हमें चीजें खरीदने के लिए ले जाते थे -यदि हम कोई विरोध करते और कहते-पीला पाजामा क्यों? कला निर्देशक हमारी बात काट देते और कहते, यह सिनेमा है, तुम ऐसी बातें नहीं समझते।

प्रतिश्रुति चित्रा में दिखाने के लिए बाहर आयी। उन दिनों अब न्यू थियेटर्स की फिल्म रिलीज होती थी तो कोई अपनी फिल्म रिलीज करने

का साहस नहीं करता था, वह एकदम 'हिट फिल्म' होती। मैं बस अथवा ट्राम में जाकर फिल्म देखता। मेरे लिए सार्वजनिक वाहन में जाकर फिल्म देखने में कठिनाई होती थी। बिमल दा के पास उनकी जरमन बी .एम .डब्ल्यू . कार थी-एक दिन उन्होंने मुझे बुलाया और मुझे लिफ्ट दी। फिर पूछा कि क्या मैंने अपनी फिल्म **प्रतिश्रुति** देखी है-मैं अपनी फिल्म के बाबत नर्वस था और उसे देखने का साहस नहीं जुटा पाता था। मैंने ऐसा ही कह दिया। 'जाओ और देखो' बिमल दा का आग्रह था, 'डरने की कोई बात नहीं है, वह एक अच्छी फिल्म है।'

उन्होंने जल्दी ही **उदयेर पाथे** के लिए काम करना शुरू किया नायक, नायिका, राधामोहन भट्टाचार्य, बिनता रॉय , देवी मुकर्जी-इनमें से किसी की बॉक्स ऑफिस की ख्याति नहीं थी-वह तो युवा टेक्नीशियनों की टोली थी। वितरक लोग आये और लौटकर चले गये-जब उन्होंने कलाकारों अभिनेताओं के नाम देखे-सभी अपरिचित नाम थे।

"यह फिल्म कैसे चलेगी-इसमें तो कोई बड़े स्टार नहीं हैं?" आशंका से वे यह सवाल करते, दूसरों से भी यही करते थे।

और उसके बाद **उदयेर पाथे** फिल्म रिलीज हुई। इसके ठीक पहले ऐसी ही कहानी के साथ एक अन्य फिल्म ने बॉक्स ऑफिस पर बड़ी सफलता अर्जित की थी किन्तु **उदयेर पाथे** ने प्रत्येक को चकित कर दिया। वह बिल्कुल सुपर, सुपर हिट फिल्म साबित हुई। लोग आनंद से खिल उठे-हर जगह उत्साह और धूमधाम का वातावरण था-सभी संदेश, रसगुल्ला और दुगुने अंडों का आमलेट छक कर उड़ा रहे थे बी .एन . सरकार के आनंद का पारावार नहीं था 'आखिर वह नया खून जो है...और एक अविवाहित व्यक्ति की कथा-कल्पना जो थी-।"

अन्य प्रतिद्वंद्वी भी थे-वरिष्ठ और कीर्तिलब्ध-जैसे नितिन बोस और अन्य-जो अपने बाल नोंच रहे थे ' ऐसी फिल्म कैसे चल सकती है? वे सचमुच चकित थे। वह एक उल्लासपूर्ण समारोह का दृश्य था-जब फिल्म जारी हुई... आनंद की सीमा यहाँ तक थी कि हम लोगों ने न्यू थियेटर्स के अहाते में फूलदार पौधे लगाये... कि वे इसी फिल्म का हिन्दी संस्करण भी बनायेंगे।

बिमल दा एकाकी आदमी थे। हर काम वे स्वयं ही करते थे और अपनी आत्मा पर सभी का बोझ सहते ....भरी जवानी में ही उनकी सेहत गिर गई थी।

□ असित बरन
(चालीस के दशक के सुप्रसिद्ध सिने गायक)

बिमल दा से जब मैं पहली बार एक प्रीमियर के दौरान मिला तब मैं बालक ही था। वे बहुत मृदु भाषी, सहज दिखने वाले व्यक्ति थे- उनकी आँखों में अनूठा आकर्षण था। फिर १९५९ तक मैं अपनी जिम्मेदारियों में अपने परिवार के साथ अपने काम-काज में व्यस्त रहा क्योंकि मुझे धन की जरूरत थी। फिल्म-फेयर ने तब कोई प्रतिभा प्रतियोगिता आयोजित की थी। मैं प्रतियोगिता में तो शामिल नहीं हुआ किन्तु बाद में आयोजित भोज में गया था जो रित्ज में ऊपर आयोजित था... मुझे याद है मैंने टाइगर से (नवाब पटौदी) उस अवसर के लिए जोधपुरी कोटा उधार माँगा था। वहीं बिमल दा से मेरी भेंट हुई थी। एक हफ्ते के ही भीतर मुझे बिमल रॉय प्रोडक्शन्स से संदेश आया कि वे मुझे मिलना चाहते हैं और पूछा था कि क्या मैं उनसे मिलने जाऊँगा। मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी सहमति दी और बिमल दा से मिलने मोहन स्टूडियो के लिए रवाना हुआ। उनके कमरे के बाहर उनके सभी सहायक- ऋषि दा, बासु, झालानी और खलील, मुझे मिल गये। उन्होंने बताया कि बिमल दा दो फिल्में शुरू कर रहे हैं- **बंदिनी** और **प्रेम-पत्र** (सागरिका) और कहा कि मैं **प्रेम-पत्र** का चुनाव करूँ क्योंकि उसमें अच्छी रूमानी भूमिका है। मैंने कहा- मैं कैसे चुनाव कर सकता हूँ, मेरे लिए तो बिमल दा के साथ काम करना ही सौभाग्य की बात होगी... बस यही काफी है। मैं उनके कमरे में गया। वे सिगरेट पी रहे थे और काफी देर बाद उन्होंने कहा:"शशि बाबू... एक पिक्चर बनाएगा... मैं उसमें तुम्हें चाहता हूँ... रुक-रुक कर उन्होंने कहा। मैंने अपनी सहमति जताई। किन्तु उस पहले दिन से ही जब मैं उनसे मिला- मैंने महसूस किया-हम एक-दूसरे को चाहते हैं... मैं तब बिलकुल युवा था, जानने की बहुत उत्सुकता, उत्कंठा मुझसे थी और उनके साथ काम करने की बात जानकर मैं सचमुच उत्साहित था।

मैं जब बाहर आया तब उनके सभी सहयोगियों से फिर से उनके कमरे के बाहर मिला। वे हमारी बातचीत जानने के लिए उत्सुक थे। गुलजार ने मुझसे पूछा भी कि क्या हुआ? मैंने बताया कि दादा ने काम करने के लिए दिन निश्चित कर दिये हैं। उन्होंने पूछा कि किसके लिए? मैंने कहा—इस बारे में मैं कुछ नहीं जानता। धर्म जी (धर्मेन्द्र) भी प्रतीक्षा कर रहे थे। एक महीने के बाद हमने जाना कि धर्मजी "दिनी में होंगे और मैं **प्रेम-पत्र** में।

एक दिन दादा ने मुझसे पूछा कि मुझे कितना पैसा चाहिए। मुझे यह सुनकर अटपटा लगा। तब उन्होंने कहा कि ठीक है यह बताओ

बी.आर. चोपड़ा तुम्हें क्या दे रहे हैं? मैंने उन्हें बताया कि वे मुझे पच्चीस हजार रुपये दे रहे हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ और पूछा कि क्या इतना अधिक पैसा वे तुम्हें देंगे। बहुत विश्वासपूर्वक मैंने कहा—अवश्य, वे बड़े लोग हैं, बड़े निर्माता हैं। उन्होंने कहा—ठीक है मैं भी तुम्हें दूँगा।

फिर फिल्म बननी शुरू हुई। बिमल दा शर्मीले स्वभाव के व्यक्ति थे। वे फिल्म में मेरी नायिका-साधना से मेरा परिचय कराना ही भूल गये। यह उसके लिए भी बड़ी फिल्म थी, अतः हमने स्वयं अपना परिचय कर लिया... फिर मैंने जाना कि बिमल दा जब भी मुझसे खुश होते हैं, तो मुझे उनके साथ चाय पीनी पड़ेगी—उनके लिए विशेष चाय आती थी और मलाई भी। चार बजे गनपत उनके लिए चाय लाता था। उनके साथ चाय पीने में मुझे गर्व महसूस होता... बाद में **बेनजीर** के दौरान मीना जी मेरी तरह उनकी चाय में साथ देने लगी। बिमल दा के इस प्रेम से हम लोगों को बहुत खुशी होती थी।

मैं आपको एक दूसरी घटना बताता हूँ—मैं १९६१ में इंग्लैंड जा रहा था और बिमल दा चाहते थे कि वहाँ **प्रेम-पत्र** के लिए कुछ शॉट लिये जाएँ। उनका अटूट विश्वास मुझमें था... उन्होंने मुझे समझाया कि आर्थिक स्थितियों और **बंदिनी** की शूटिंग के कारण वे लंदन नहीं जा पाएँगे, उन्होंने कहा कि ये कुछ शॉट हैं जिनको मैं लिख लूँ, पहला शॉट इस तरह लेना, फिर उन्होंने पान दिया और ये करना, वो करना—इस तरह की हिदायतें देते रहे और शॉट के सम्बन्ध में समझाते रहे। मैंने कहा—दादा, लेकिन मैंने कभी फिल्म शॉट नहीं की। उन्होंने सहज रूप से इतना ही कहा कि वे जानते हैं कि मैं वह कर सकता हूँ। मैंने तुम्हें सेट्स पर देखा है और मैं जानता हूँ कि तुम यह काम बखूबी कर सकते हो। उन्होंने कहा कि लंदन में उनका आदमी मुझसे मिलेगा। वह कैमरा चलायेगा लेकिन उन्होंने हिदायत दी कि अपनी फिल्में मैं, स्वयं करूँ। मैंने सहमति दे दी और लंदन में फिर शॉट लिये थे इनमें से कुछ का उपयोग किया गया।

प्रेमपत्र बहुत ठीक नहीं बन पड़ी थी; बिमल दा इस पर स्वयं को दोषी मानते थे कि मैं नहीं जानता कि क्यों और कब हम फिर मिलेंगे। उन्होंने कहा—"फिर से तुमको लेगा-हम काम करेगा... एक साथ... तुम अभी भी हमारे एक सदस्य के रूप में बी.आर.पी. परिवार के व्यक्ति हो।"

फिर **बेनजीर** की संयोजना हुई। मैं उसमें लिया गया। फिर मुझे उस

अटपटे क्षण में गुजरना पड़ा जब विमल दा ने मुझसे पूछा कि मैं कितना पैसा लूँगा? मैंने कहा कि मुझे पैसे की जरूरत है—मुझे अपने भाइयों अथवा दूसरों से कोई सहारा नहीं है और परिवार की जिम्मेदारी भी मुझ पर है। मैं अल्टामाउंट रोड पर ओलंपस में रहता हूँ और वह महँगी जगह है। उन्होंने मुझसे फिर पूछा कि चोपड़ा साहब मुझे कितना दे रहे हैं—क्योंकि मैं उस समय **वक्त** में काम कर रहा था—विचित्र संयोग था और मैंने कहा वे मुझे बड़ी रकम दे रहे हैं—एक लाख रुपये। उन्होंने कहा वे इस पर विश्वास नहीं करते तो मैंने कहा कि वे इसकी पड़ताल कर लें। उन्होंने तत्काल कहा— नहीं, मैं तुम्हें उतना ही दूँगा, बस बात पूरी हो गयी।

मैं अस्पताल में था जब उनकी मृत्यु की खबर मिली... मैं अस्पताल से सीधे उनके घर गया। मुझे अजीब लग रहा था, ऐसा महसूस हुआ—मानो अपने परिवार का ही कोई चला जा रहा हो... विमल दा के साथ मेरा ऐसा ही विभिन्न रिश्ता था। हम दोनो एक-दूसरे को जानते और समझते थे... जैसे कि हम लोग दिन भर शूटिंग करते, फिर मुझे घर भेज देते। मैं घर पहुँचता और फोन आता– काफी दूर से, फासले से कि विमल दा ने मुझे बुलाया है, एक शॉट रह गया है और मुझे जाना पड़ता यद्यपि फासले की जगह थी।

और वे कहते— "तुम मेरे लिए वापिस आये हो?" मैं कहता—हाँ, और उससे वे खुश होते। एक बार वे एक अटपटा **शॉट** ले रहे थे और मैंने उनसे बहस की... लेकिन वे बिलकुल अडिग थे, वे अपने ही रास्ते पर चलते थे। जब वे तर्क नहीं करना चाहते थे तो मुझसे अलग चले जाते थे।

☐ **शशि कपूर**

१९५१ के आसपास मैंने न्यू थियेटर्स में काम करना शुरू किया था। तब अनेक निर्देशकों के कमरे एक कतार में थे—हेमचंद्र, भोलानाथ मित्र, कार्तिक चटर्जी— सभी सुंदर ढंग से सजे हुए थे—केवल एक कमरा खाली था—वह बिमल रॉय का कमरा था। हर जगह-परदों के चुनाव में, रंगयोजना में, कुर्सी में या दीवालों पर टंगी तस्वीरों पर—जो उन्होंने या उनकी पत्नी ने खींची थी—इन सभी पर सुरुचि की बिलकुल स्पष्ट छाप थी। उनकी फिल्मों से मैंने उनकी जो छबि अंकित की थी—वह इस कमरे से प्रमाणित हो जाती थी—कोई भी देख सकता था कि उन्होंने अपने कार्य और जिंदगी में सुन्दरता के एक समान प्रतिमानों का निर्वाह किया। मुझे लगभग आठ नौ बरस बाद तक उनसे मिलने का तब तक कोई सुयोग नहीं मिला था जब उन्होंने मुझे अपनी फिल्म **परख** में काम करने के लिए बुलाया।

मुझे मालूम था कि उनकी प्रसिद्धि ऐसे व्यक्ति की थी जो बोलते नहीं थे—केवल एक बार मिलना ही काफी था। काम के दौरान वे शायद ही कभी बोतले थे। बसु या पॉल तुम्हे तुम्हारी पंक्तियाँ देंगे और फिर मौन में खो जाते। यदि मैं कभी कुछ पूछता तो उनका उत्तर एक शब्द में 'हाँ', 'नहीं' 'ठीक है' में रहता।

एक बार उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मैं उनके घर पर अतिथि बनना पसंद करूँगा। मैंने नकारात्मक उत्तर यह सोचकर दिया था कि ऐसे व्यक्ति के पास कैसे रहा जा सकता है जो बात ही नहीं करता। पर उन्होंने फिर कहा—उस समय उनका परिवार बाहर गया था तो मैं इंकार न कर सका।

भोजन के बाद जब घर के नौकर-चाकर सभी चले गए थे तब हम लोग बरामदे में बैठे। रात काफी हो चुकी थी तब वे जैसे अपने आप से ही बातें कर रहे हों—इस भाव से उन्होंने बोलना शुरू किया।

"तुम जानते हो कि हम इन फिल्मों की उपेक्षा बहुत अच्छी फिल्में बना सकते हैं, वे मंद स्वर में बोलते गए—लेकिन जब मैं दक्षिण भारतीय क्षेत्र के लिए चौदह हजार फीट लंबी फिल्म बनाने की बात सोचना शुरू करता हूँ—अथवा जब मैं बंगाल अथवा बंबई में अपनी फिल्म चलाने की बात सोचता हूँ—तो सब कुछ बदल जाता है—और मैं जो चाहता हूँ वह नहीं बना पाता..." मेरे लिए तो उनका यह स्वगत कथन ही था—मैंने उनसे किसी बात के लिए नहीं कहा था। शायद उन्हें एक अच्छा श्रोता मिल गया था और धीरे-धीरे वे अपनी बात कहने

लगे। उनके कहने का प्रयोजन था कि सुरक्षा का सवाल बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। फिल्म के अर्थशास्त्र पर उन्होंने मेरा ध्यान केन्द्रित किया था। बिमल दा और सोहराब मोदी के बारे में कई दिलचस्प बातें हैं। ये दोनों **यहूदी की लड़की** में साथ-साथ आए थे—दोनों बात नहीं कर सकते थे। मुझे भी इस घर में ऐसा ही अनुभव हुआ, जब वे कलकत्ता आए थे। **परख** की शूटिंग के दौरान जब भी हमारा दृश्य कलाकार जयंत के साथ होता, जो जमींदार की भूमिका में काम कर रहा था—बिमल दा कहने लगे: "बसंत-कल्पना करो यदि हम यह फिल्म बंगाली में बनाते तो हम छबि विश्वास को इस भूमिका में लेते।" यह बात उन्होंने कई बार कही। मैं छवि दा के निकट था—वास्तव में वे मेरे पड़ोसी थे। बिमल दा जब कलकत्ता आए तो मैंने उन्हें निमंत्रित किया। मैंने छबि दा को भी बुलाया—उन्होंने पूछा कि अवसर क्या है? मैंने कुछ नहीं बताया। दोनों मछली के शौकीन थे। मैंने रात्रि भोज के लिए कई प्रकार की मछली तैयार कराई। साँझ होते ही बिमल दा आ पहुँचे, छबि दा भी आए। वे शायद एक-दूसरे से परिचित रहे होंगे लेकिन शालीनता की दृष्टि से मैंने उनका औपचारिक परिचय कराया। केवल मैं ही दूसरा व्यक्ति वहाँ था—मैंने किसी और को यह सोचकर आमंत्रित नहीं किया था कि बिमल दा, छवि दा से अनौपचारिक रूप से बात करना चाहेंगे। इसी प्रकार छबि दा भी बिमल दा से मिलना चाहेंगे—वहाँ केवल हम तीन व्यक्ति ही थे। दो महान व्यक्तित्व—किंतु दोनों ही मौन। बिमल दा लगातार सिगरेट पीने के आदी थे, उन्होंने सिगरेट पीना शुरू किया, छबि दा सिगरेट नही पीते थे—इसलिए वे सिगरेट नहीं पी रहे थे। मेरे लिए वह मौका बहुत परेशान करने वाला था—मैंने कुछ बातचीत शुरू की लेकिन मैं कितनी देर तक उसे जारी रख सकता था। छबि दा बातचीत के शौकीन थे, उन्होंने भी कोशिश की—लेकिन कोई सार न निकला। हम लोग दो घंटों तक वहाँ बैठे रहे, हमारा रात्रि भोज—लगभग पूरा बिना बातचीत के ही निपट गया केवल हमने ही बातचीत करने के हलके प्रयास किए। मैंने अपने सामाजिक जीवन में ऐसी असफलता का अनुभव कभी नहीं किया था। यह कठिन परीक्षा समाप्त होने पर मैंने राहत की साँस ली।

बिमल दा के व्यक्तित्व का एक उदार पहलू भी था जो केवल उन लोगों ने ही देखा था जो कि उनके प्रेम भाजन थे। मुझे याद है वे अभी हाल ही में विदेश यात्रा से लौटे थे—वह कैरो समारोह था—जब मैं बंबई में शूटिंग के लिए चला गया। वे मुझे घर ले गए और वहाँ मुझे

अनेक प्रकार की टाइयाँ दिखाईं। उन्होंने कहा—"तुम्हें जो पसंद हो चुन लो।"

फिर उन्होंने मुझे ईजिप्त की कुछ विलक्षण और अनूठी वस्तुएँ दिखाई और कहा कि मुझे जो पसंद हो ले लूँ। इसके बाद हम उसी कार में स्टूडियो गए। हम दोनों ही धूम्रपान करते थे—सिगरेट पीने की हमारी संख्या भी समान थी। मैंने अपनी सिगरेट सुलगाई और उन्हें भेंट की, हम लोग एक ही ब्रांड भी पीते थे, उन्होंने पहले ही अपनी सिगरेट सुलगा ली थी। मोहन स्टूडियो तक हम लोगों ने न जाने कितनी सिगरेटें पी डाली थीं। उतरने के ठीक पहले उन्होंने मुझे इशारा किया और कहा—"इसे देखो?"

मैं उनकी अधजली सिगरेट देखी। बाद में उन्होंने वह मुझे दी। उन्होंने मुझे जो अधजली सिगरेट दी थी वह दरअसल प्लास्टिक सिगरेट की नकल थी। मैं समझ गया वे सिगरेट छोड़ने की कोशिश कर रहे हैं और इसे इंग्लैंड से लाए हैं। उन्होंने उलझन भरी दृष्टि देखी और कहा—"यह इग्लैंड की सबसे ताजी किस्म है। इसका सिरा वास्तविक सिगरेट सा लगता है और अपनी उँगलियों के बीच में पकड़ते हुए तुम महसूस करते हो मानो तुम वास्तव में सिगरेट पी रहे हो जबकि ऐसा होता नहीं है। फेफड़ों के कैंसर के लिए बहुत सी सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं—मैं सिगरेट छोड़ने की कोशिश कर रहा हूँ। कम से कम मैं अपनी संख्या तो कम कर ही सकता हूँ।"

□ **बसंत चौधरी**
(फिल्म और रंगमंच के महत्वपूर्ण अभिनेता)

सिनेमा की विषय–वस्तु

मेरे दिवंगत सलाहकार बिमल रॉय में सबसे खास बात या सर्वोत्कृष्ट गुण था उनका प्रगतिशील नजरिया जो उनकी विषय–वस्तु के चयन से दृष्टिगोचर होता है। इस देश में वह पहले थे जिन्होंने मैक्सिम गोर्की की भाषा में हमारे समाज के **सामाजिक यथार्थवाद** को प्रकट किया।

बिमल रॉय द्वारा निर्देशित पहली द्विभाषी फिल्म **उदयेर पाथे (हमराही), जो कलकत्ता के न्यू थियेटर** में बनी थी, इसका प्रत्यक्ष

प्रमाण है, जैसा कि बंबई की उनकी प्रारंभिक फिल्में भी हैं। भारतीय सिनेमा में पहली बार **उदयेर पाथे** में वर्ग–संघर्ष और बदलता सामाजिक परिवेश देखने में आता है। वे बिरले ही होंगे जिन्होंने इस विषय–वस्तु की फिल्म के रूप में पहले कल्पना भी की होगी।

उनकी सभी फिल्में सामाजिक यथार्थवाद के स्वर सँजोए हुए हैं। उनकी सबसे लोकप्रिय कृति **दो बीघा जमीन** सर्वाधिक प्रेरणादायी फिल्मों में से एक है जो भूमिहीन ग्रामीण कृषकों द्वारा दो प्रकार के शोषण के विरुद्ध संघर्ष है : पुरानी सामंती व्यवस्था और नए खतरे के रूप में उभरता औद्योगीकरण। **नौकरी** और **परख** भी इसी लीक पर चलते हैं। इस क्षेत्र में बिमल रॉय अग्रगण्य हैं। अपने बहुत से समकालीनों से ज्यादा अच्छी तरह वे अपने समय की आत्मा और नब्ज को पहचानते थे।

निरूपण

बिमल रॉय का फिल्मी विषयों का चयन साहित्यिक परंपरा से बँधा हुआ था। उस काल के अन्य कई फिल्मकारों की तरह इक्का–दुक्का मौकों को छोड़कर वे भी साहित्यिक कथा को किसी अन्य कथा से ज्यादा तवज्जो देते थे। वे हमेशा यह सुनिश्चित कर लेते थे कि उनकी कथाएँ परिपक्व और वास्तविक हों। विचार और चरित्र दोनों में। उन्होंने केवल उन्हीं प्रकाशित उपन्यासों को चुना जो इन दोनों महत्वपूर्ण कसौटियों पर खरे उतरते थे साथ ही जिनमें दिलचस्प परिस्थितियाँ भी होती थीं।

वे किसी भी साहित्यिक कृति को फिल्म के उपयुक्त बनाने के लिए अथक परिश्रम करते थे और अंततः बनी हुई फिल्म एक साहित्यिक क्लैसिक होने के साथ–साथ फिल्मी भाषा की बेजोड़ मनमोहक कृति भी होती है। दोनों विधाओं का यह अद्‌भुत सम्मिश्रण बिमल रॉय की महानतम उपलब्धियों में से एक है।

समग्र चिंताएँ और सिनेमा को योगदान

बिमल रॉय न्यू थियेटर के आखिरी दिग्गजों में से थे और उन सबमें सबसे अधिक आधुनिक थे। उनकी समकालीन सूक्ष्मदृष्टि थी, जिसकी अतीत और वर्तमान में कइयों से तुलना की जाती है, जिसने बाद में प्रयोगवादी फिल्मों के लिए रास्ता बनाया इस तरह से वे हम सबके अग्रगण्य हैं।

वह कलाकारों में से प्रकृतिवादी, सजीव अभिनय निकलवाने में उस्ताद थे। जब फिल्म अभिनय का कोई संदर्भ आकार नहीं था और वह पूरी तरह से स्टेज के नाटकीय बेहूदेपन पर निर्भर करता था, बिमल रॉय शायद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय पर्दे पर दबे हुए अभिनय की शुरूआत की और इसे सिनेमा के लिहाज से प्रभावी बनाया। वह असामान्य रूप से समर्पित व्यक्ति थे। सिनेमा की कला और कथ्य के प्रति उनके भाव फिल्म निर्माताओं के लिए शिक्षा हैं। हमेशा सिगरेट पीते हुए, रात–रात भर बिना आराम किए हुए निरंतर अपनी कला की संपूर्णता के लिए प्रयासरत रहना बिमल रॉय के लिए आम बात थी। उनके इसी समर्पण भाव ने शायद उनके जीवन को ग्रस लिया, क्योंकि वे इस दुनिया से काफी जल्दी चल बसे। मैं उन्हें भीड़ भरे दृश्य के पीछे के शांत व्यक्ति के रूप में याद करता हूँ। जब उनके सहकर्मी निरूपण, चरित्र–चित्रण और स्थितियों के बारे में बहस करते रहते थे- सिगरेट के धुँए के बादल के पीछे से सहसा उनकी आवाज गूँजती थी और बहस के धागे को पकड़कर उन्हें सर्वश्रेष्ठ नतीजे पर पहुँचाती थी।

एक व्यक्ति और एक निर्देशक के रूप में बिमल रॉय का वर्णन श्री बी.के. करंजिया (एन.एफ.डी.सी. के अध्यक्ष) के शब्दों में **शांत मेघगर्जन** है। मेघ गर्जना की आवाज की तरह उनकी फिल्मों के भाव भी काल और पीढ़ियों के आर–पार गूँजते रहते हैं, जिनकी एक शाश्वत अपील है।

☐ नबेन्दु घोष

मंत्र मुग्ध (१९४८) श्री बी.एन सरकार के साथ एक **मौखिक चुनौती** के रूप में शुरू हुई। उन्होंने इस लीक से हटकर बनी फिल्म के लिए बिमल रॉय को पृष्ठभूमि दी-जो **उदयेर पाथे** और **अजानगढ़ जैसी** फिल्में बनाकर खुद को गंभीर व सामाजिक प्रगशिील सिनेमा के निर्माता के रूप में स्थापित कर चुके थे।

उन दिनों न्यू थियेटर्स् में कोई भी फिल्म डेढ़ से दो साल में बना करती थी। इस लेट-लतीफी के लिए स्टूडियो मैनेजर जगदीश चक्रवर्ती ने निर्देशकों व बजट की अधिकता को दोष दिया। यह बात बिमल दा को चुभ गयी। उन्होंने कहा इसमें दोष निर्देशकों का नहीं है। बिमल दा का मानना था कि फिल्में समय पर पूरी करवाना स्टूडियो मैनेजमेंट की जिम्मेदारी थी। उन्होंने बी.एन. सरकार से वादा किया कि वह **मंत्र मुग्ध**

को छह महीने में एक लाख के बजट में पूरी कर देंगे। यह श्री सरकार और बिमल दा के बीच एक मौखिक चुनौती थी। मुझे इस प्रोडक्शन का मैनेजर बनाया गया और पैसे-धेले से संबंधित सारे मामले मैं ही देखता था, न कि स्टूडियो मैनेजमेंट। हमने फिल्म को बजट के अंदर और छह महीने में तैयार कर दिया जैसा कि हमने वादा किया था। दर्शकों ने विमल रॉय की इस व्यंग्यात्मक फिल्म को पसंद नहीं किया। उन्हें **उदयेर पाथे** बनाने वाले से गंभीर फिल्म की अपेक्षा थी, न कि **हल्की** फिल्म की। मैं नहीं समझता **मंत्र मुग्ध** हल्की फिल्म थी, मेरी नजर में यह विनोदशील व्यंग्य था—जिसे श्री सरकार का पूरा अनुमोदन हासिल था।

विमला रॉय प्रोडक्शन की सबसे फ्लॉप फिल्म थी **प्रेम पत्र** जो बॉक्स ऑफिस पर बुरी तरह असफल रही। यह उत्तम कुमार और सुचित्रा सेन के साथ सुपर हिट बंगाली **सागरिका** पर आधारित थी। हमारे संगीत निर्देशक सलिल चौधरी ने हिंदी फिल्म की पटकथा लिखी। बिमल दा पटकथा से घोर असंतुष्ट थे। सलिल ने बिमल दा की एक न सुनी। बिमल रॉय प्रोडक्शन्स में **प्रेम पत्र** से अधिक असफल फिल्म कोई नहीं रही।

☐ **असित सेन**

लोग बाग उन्हें **मौन मनीषी,** "एक ऐसा व्यक्ति जो सबसे शक्तिशाली था क्योंकि वह अकेला खड़ा था" कहा करते थे—ये उस व्यक्ति के लिए अस्पष्ट व नगण्य संबोधन थे जो उससे ज्यादा अर्थ रखता था जितना आज महसूस किया जाता है? क्या यह आश्चर्यजनक है कि वह व्यक्ति जो अपने जीवन में बुलंद व्यक्तित्व, एक प्रेरणास्रोत था वह यूँ समय के अंधे गलियारों में महत्वहीन होकर गुम हो जायेगा? क्या अँधेरे से घिरे हुए हमारे इस फिल्म-निर्माता, उस तंत्र के विरोध में थे जो फिल्म-संसार को नियंत्रित करती और चलाती है। हिंदी सिनेमा की इस अस्थिर भूमि पर उन्होंने दूरगामी जड़ें विकसित कीं.......

जब किसी ने उनकी फिल्म के बारे में सहसा कहा, "वे सीधे दिल तक पहुँचती हैं" यह बिमल रॉय के योगदान का शायद सबसे सही मूल्यांकन है। उनको कोई बौद्धिक मिथ्याभिमान नहीं था न ही वे तकनीकी बाजीगर थे, जिसके पास तकनीकी ज्ञान व साधन हों। न ही **उदयेर पाथे** (**हमराही**) के निर्माता होने का, जो भारतीय फिल्मों की सामाजिक-बौद्धिक परम्परा में एक ऐतिहासिक घटना समझी जाती है,

पर व्यक्तिगत रूप से कोई प्रभाव पड़ा। पर बिमल रॉय ऐसे व्यक्ति नहीं थे जो सफलता से विचलित हो जाएँ, तब भी नहीं जब यह सफलता शक्तिशाली तरंगों के रूप में उनकी पहली ही फिल्म (**उदयेर पाथे**) से मिले। उन्होंने व्यावसायिक सफलता के लिए अपनी रचनात्मक प्रतिभा को कभी गिरवी नहीं रखा। उन्होंने अपनी हिट फिल्मों की अंधी नकल करने की की कोशिश नहीं की। वे भाग्य की इक्का-दुक्का सफलताओं पर भरोसा न करके सतत् मेहनत पर भरोसा करते थे। **उदयेर पाथे** के बाद की सभी फिल्में स्वरूप और कथ्य में एक-दूसरे से इतनी अलग थीं कि इस रचनात्मक माध्यम के प्रति उनकी गहन व समर्पित तन्मयता का कभी नैतिक ह्रास नहीं हो पाया।

दृढ़ धारणाएँ

उनकी अमूर्त—अद्‌भुत रूप से उन्नत, सहज फिल्मों में दृढ़ धारणाओं का, भाव था। वे किसी विशेष युग या दर्शक— समूह के लिए न होकर सभी के लिए थीं क्योंकि उनकी अपील सबसे सुंदर मानवीय भावों के लिए थी।

याद करिये वे आँसू, नन्हीं सुजाता की मद्धिम फुसफुसाती आवाज (जब उसके पालक पिता ने उसकी दूध पीती बहन रमा को एक चम्मच हलवा खिलाया था) "बाबा मेरा हलवा?" ये शब्द कितने हृदयस्पर्शी थे। वे न सिर्फ गहनतम भावनाओं को छूने में सक्षम थे बल्कि वे उन्हें सही जगह, सही तरह से छूते थे। बहुत थोड़े हीफिल्म निर्माताओं में सही संवेदनशीलता थी कि किस तरह, कब और कहाँ तक किसी भावनात्मक संवेग को ले जाना है। चूँकि वे जानते थे कि **किस तरह, कब** और **कहाँ** तक वह हमारी निस्पंद प्रतिक्रिया को झकझोर सकते हैं, इसलिए उनकी हर फिल्म दर्शकों के लिए एक व्यक्तिगत भावनात्मक अनुभव बन पड़ी थी।

उनकी सभी फिल्में, विषय की भिन्नताओं के बावजूद, एक महत्वपूर्ण मानव उपलब्धि पर जोर देती हैं और जोर दिया जाता है विश्वास पर--मूलभूत मानवीय सम्बन्धों में विश्वास, जो उलझी हुई परिस्थितियों व अव्यवस्था का सामना करने में सक्षम है जैसे **उदयेर पाथे**, **दो बीघा जमीन**, **बिराज बहू**, **परिणीता**, **सुजाता**, **परख** और **बंदिनी**, विश्वास हमारे बचाव का एकमात्र साधन है।

उनकी दु:खद मृत्यु ने विश्वास की उनकी महानतम् कहानी **अमृत कुम्भेर सन्धाने** को अनकहा छोड़ दिया।

जिम्मेदारी का बोध

हमें याद रखना चाहिए कि चूँकि हमें उन जैसे ईमानदार और खरे व्यक्ति मिले थे जिन्हें इस सिने—संसार में भारी जिम्मेदारी का बोध था इसलिए हम अच्छी फ़िल्मों के बारे में आशान्वित रह पाये? आज ऐसे कितने फिल्म-निर्माता हैं जो हममें यह आशा जगा सकें या एक ठंडे भावशून्य संसार में मानव की अच्छाई में हमारे विश्वास को पुनर्जीवित कर सकें? हमें आज विमल रॉय जैसे बौद्धिक रूप से ईमानदार फिल्म निर्माताओं की जरूरत है और आज के फिल्म—संसार में ईमानदारी के सिवा सब कुछ है।

☐ **रिंकी भट्टाचार्य**

कतरनें...

द टाइम्स . . . २० अगस्त, १९५६

कार्यक्रम में बिमल रॉय द्वारा निर्देशित **दो बीघा जमीन** भी सम्मिलित है जो **स्टेला** की तरह समारोहों में देखी गई है। यह भारत की ग्रामीण गरीबी से ताल्लुक रखती है और बताती है कि किस तरह एक बंगाली किसान भारी कर्ज उतारने के लिए अपने पुत्र के साथ कलकत्ता में काम की तलाश में जाता है। यथार्थवाद भावनात्मकता के साथ सम्मिश्रित होता है। फिल्म पर डी सिका की **शू शाइन** और **बाइसिकल थीव्ज** का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है।

न्यू क्रॉनिकल . . . १७ अगस्त, १९५६

शहरी सड़क पर आँसू

दो बीघा जमीन मुझे समकालीन भारत में ले जाती है और इसमें रहने वाले लोगों के एक छोटे समूह के बारे में मुझे उससे ज्यादा बताती है

जितना कि किसी भी फिल्म ने मुझे ऐसे देश में रहने वाले लोगों के एक छोटे समूह के बारे में बताया है, जिसे मैं नहीं जानता।

बिमल रॉय द्वारा निर्देशित, कमल बोस द्वारा सुन्दर रूप से छायांकित, हर एक के द्वारा संवेदनशीलता के साथ अभिनीत यह फिल्म मेरी नजर में सर्वाधिक कारुणिक, सर्वाधिक जानकारी देने वाली और सर्वाधिक यादगार फिल्म है जो मैंने इस साल देखी है। उंबरटो डी के बाद, जो प्रमुखतः उपेक्षित वृद्धों के बारे में है, किसी भी फिल्म ने मुझे इतना अधिक विचलित नहीं किया। **दो बीघा जमीन** में न सिर्फ सार्वकालिक उपेक्षितों की बल्कि शोषितों की भी पीड़ा है। यह खासकर युवाओं के लिए है, जिनकी किसी भी शहर में उपेक्षा और शोषण, हमें एक ही संसार के नागरिक बनने से रोकते हैं।

मैनचैस्टर गार्जियन . . . १८ अगस्त, १९५६

पेरिस–पुलमेन के महत्वपूर्ण नए कार्यक्रम में **दो बीघा जमीन** भी है जो पिछले वेनिस समारोह की भारतीय पुरस्कार विजेता है। यह नव–यथार्थवाद का एक नमूना है (बिमल रॉय द्वारा निर्देशित)। यह फिल्म इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि भारत से हम तक पहुँचने वाली यह अपनी तरह की पहली फिल्म है। और किसी संदर्भ में नहीं, तो राजनीतिक दृष्टि से तो भारत एक नया देश है ही और यह बड़े अचरज की बात है कि भारतीय स्वतंत्रता के तत्काल बाद ही कोई भारतीय निर्देशक इतनी अधिक निराशाजनक फिल्म बनाए। **दो बीघा जमीन** की कहानी काफी करुण है: एक गरीब किसान और उसका पुत्र पैसा कमाने कलकत्ता जाते हैं (जो नगर धन–धान्य से परिपूर्ण है) ताकि वे अपने छोटे से बंगाली खेत को एक बड़ा कारखाना डालने वाले के हाथों बिकने से बचा सकें। न सिर्फ यह एक क्रूर फिल्म है बल्कि यह इतालवी नव–यथार्थवाद की शैली में भी है। यह एक बड़े भारतीय शहर में जीवन की परिस्थितियों का असाधारण रूप से जीवंत चित्रण है, जहाँ नियॉन की बत्तियाँ हैं, सजीली दुकानों में तरह–तरह के लुभावने सामान बिखरे पड़े हैं, सड़कों पर सोते आदमी और बैल भी इस विकृत दृश्य का एक हिस्सा हैं। यह वाकई एक यादगार फिल्म है।"

न्यू स्टेट्समेन एंड नेशन . . . १८ अगस्त, १९५६

दो बीघा जमीन लंदन में देखी गई आज तक की सर्वश्रेष्ठ भारतीय फिल्म है।

डेली टेलीग्राफ . . . १८ अगस्त, १९५६

भारतीय **दो बीघा जमीन** जो एक गरीब किसान व उसके छोटे पुत्र के कलकत्ता के अनुभव चित्रित करती है, इटली की **बाइसिकल थीव्ज** से व्युत्पन्न प्रतीत होती है। शहर के दृश्यों में वास्तविकता का बोध होता है और निर्देशक विमल रॉय स्पष्टतः डि सिका और समूह के एक वफादार छात्र हैं।

सन्डे टाइम्सः १९ अगस्त, १९५६

वेनिस की पुरस्कार विजेता फिल्म **दो बीघा जमीन** भारतीय सिनेमा के एक नए यथार्थवादी संप्रदाय से है . . . विषय में और मनोदशा में भी यह भारत की **बाइसिकल थीव्ज** है।

बलराज साहनी ने वफादार, स्वाभिमानी, दुखी किसान की भूमिका में पिता के चरित्र को गहरी संवेदनशीलता के साथ निभाया है।

स्टारः १५ अगस्त, १९५६

कई अन्य महिलाओं की तरह इस फिल्म ने बेगम आगा खान को भी रुलाया। यह फिल्म एक भारतीय बाल कलाकार की है जिसने उनके आँसू निकलवाए।

उसका नाम है रतन कुमार और वह भारतीय फिल्म **दो बीघा जमीन** का सितारा है जो पेरिस–पुलमेन सिनेमा के तहत लंदन में कल प्रदर्शित होने वाली है।

बेगम ने इस फिल्म को देखा गरीबी के खिलाफ संघर्ष करते हुए एक बच्चे द्वारा जूते चमकाना और उसके पिता द्वारा रिक्शा खींचना वेनिस फिल्म समारोह में, जहाँ इसे अंतरराष्ट्रीय ग्रां प्रिक्स मिला था।

मैंने उनके वक्तव्यों से भरा एक पत्र पढ़ा। उन्होंने लिखा था, "अभिनेता इतने यथार्थवादी और संवेदनशील ... कि मेरी आँखों में बार–बार आँसू आते रहे, और ऐसा पूरे समारोह के दौरान एक ही बार हुआ था।"

रीनॉल्डसः १९ अगस्त, १९८९

सौभाग्य से इसी कार्यक्रम में **दो बीघा जमीन** है। परंतु पाश्चात्य गर्द भरे इस एक सप्ताह में यह प्राच्य फिल्म गर्द से अपील करती है–पारिवारिक स्नेह की, आत्म–नियंत्रण की और निःस्वार्थता की, जबकि गरीबी और दुःख जीवन पर हावी हों।

और, इसके दुखद अंत के बावजूद, यह एक आशा का संदेश देती है कि एक न एक दिन मनुष्य अपनी समस्याओं को सुलझाने में कामयाब होंगे।

फाइनेंशियल टाइम्सः २० अगस्त, १९५६

इसी कार्यक्रम में सम्मिलित एक भारतीय फिल्म **दो बीघा जमीन** हृदयस्पर्शी और परिष्कृत रूप से एक बेदखल किसान का जीवंत चित्रण है। वह बेदखल किसान कलकत्ता की गंदी गलियों में अपने पुत्र के साथ आता है और पैसे कमाने की कोशिश करता है। प्रवीणता और सादगी के साथ निर्मित यह कारुणिक फिल्म विस्तृत यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में है।

ऑक्सफार्ड मेल : १८ अगस्त, १९५६

सिनेमा के कद्रदान पेरिस–पुलमैन में भारतीय फिल्म और ग्रीक फिल्म के रोचक दोहरे वैशिष्ट्य को नजर अंदाज नहीं कर सकते। सब फिल्मों में सर्वोत्कृष्ट फिल्म थी पुरस्कार विजेता भारतीय फिल्म **दो बीघा जमीन** जो आश्चर्यजनक रूप से वास्तविक लघु त्रासदी थी। इसमें कलकत्ता की निर्दय व निष्ठुर गलियों में एक किसान और उसके पुत्र द्वारा जमीन के एक टुकड़े भर के लिए पैसे कमाने के लिए किए गए निरर्थक संघर्ष को चित्रित किया गया है। सुंदर रूप से छायांकित इस फिल्म का सम्मोहक गुण उसकी शैली है जो अच्छे बुरे चरित्रों के लिए सहानुभूति उपजाती है जो एक सीधी–सादी कथा को अभिनीत करते हैं।

तपती हुई भारतीय धरती या उन झोपड़ियों, जिनमें कलकत्ता के गरीब न्यायसंगत या किसी और तरीके से जीविकोपार्जन का प्रयत्न करते हैं, से अधिक अपरिचित कुछ भी नहीं है, परंतु इस फिल्म में वह दुर्लभ जादुई स्पर्श है, सार्वभौमिक मानवता का बोध है जो संसार को भाई–चारे के एक सूत्र में बाँध देता है।

बिमल रॉय
जीवन परिचय

बिमल रॉय १२ जुलाई १९०९ में बंगलादेश में एक पुराने भूमिपति परिवार में पैदा हुए जिसकी रिहायश के पास ही थी। बिमल रॉय ने अपने बचपन और यौवन का अधिकांश समय इसी पैतृक घर में गुजारा। जब वे ढाका के प्रसिद्ध जगन्नाथ कॉलेज में इंटरमीजिएट की परीक्षा दे रहे थे, उनके पिता का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु के उपरांत कुटिल मैनेजर ने उनकी जमीन-जायदाद हड़प ली। तब बिमल रॉय अपनी विधवा माँ और आश्रित भाइयों को कलकत्ता लाये, जहाँ उनका बड़ा भाई सुधीरचंद्र रॉय एक साधारण नौकरी कर रहा था।

१९३० के करीब इस परिवार ने दक्षिण कलकत्ता में एक छोटा सा फ्लैट किराए पर ले लिया। बिमल रॉय ब्रेक की तलाश में एक स्टूडियो से दूसरे स्टूडियो तक चक्कर काटते रहे। उन्हें तब तक फोटोग्राफी का चस्का भी लग चुका था। अपने भाई द्वारा दिये गये तोहफे लीका कैमरे

से फोटोग्राफी करने वाले बिमल रॉय कैमरा सहायक बनने की तमन्ना रखते थे।

कलकत्ता से आने के कई महीनों बाद बिमल रॉय को सबसे पहले खोजा नितिन बोस ने, जो उस समय न्यू थियेटर्स के सर्वश्रेष्ठ चलचित्रकार थे। बोस ने देवदास (१९३५) में बिमल रॉय को अपना सहायतक रखा। इसके बाद बोस के साथ उन्होंने कई फिल्मों में काम किया। बरुआ की **मुक्ति** (१९३७) में बिमल रॉय ने कैमरे का जबर्दस्त प्रयोग किया। फिल्म उद्योग, प्रेस और दर्शकों सभी ने उन्हें **श्रेष्ठ कैमरामैन** की उपाधि दे डाली। उन्होंने फोटोग्राफी जारी रखी। फीचर फिल्मों और वृत्तचित्रों के लिए उन्होंने भारत में कई पुरस्कार जीते। ब्रिटिश सरकार ने १९४३ में हुए बंगाल के भयावह सूखे पर वृत्तचित्र बनाने का कार्य बिमल रॉय को सौंपा। रॉय का पाशविक यथार्थ का बेबाक चित्रण ब्रिटिश सरकार को रास नहीं आया। सरकार ने उसे जब्त कर लिया और नष्ट कर दिया। १९४४ तक न्यू थियेटर्स के मालिक बी.एन. सरकार ने बिमल रॉय को पहला निर्देशकीय अवसर देने का फैसला कर लिया था। उन्होंने अनजाने सितारों के साथ कम बजट की एक बंगाली फिल्म **उदयेर पाथे** बनाई। यह फिल्म न्यू थियेटर्स के लिए मानों सोने की खान साबित हुई, क्योंकि इसे जब-जब भी प्रदर्शित किया गया, यह बॉक्स ऑफिस इतिहास निर्मित करने में सफल रही है। इसी फिल्म का हिन्दी रूपांतर **हमराही** दो वर्ष बाद तैयार हो सका।

बिमल रॉय ने न्यू थियेटर्स के लिए तीन फिल्म और बनाईं। इसके बाद वे बंबई के हिन्दी सिने उद्योग के एक अंग बन गए।

उन्होंने कलकत्ता में १९३९ में अपनी भाभी की चचेरी बहन मोनोबिना सेन रॉय से शादी की।

बाम्बे टॉकीज ने एक हालीवुड हिट फिल्म पर आधारित हिन्दी फिल्म **माँ** के साथ बिमल रॉय के लिए अपने द्वार खोल दिए। उनके प्रारंभिक बंबई काल में अशोक कुमार ने बिमल रॉय को एक फिल्म के ऑफर दिया और उन्होंने शरतचंद्र चटर्जी की **परिणीता** को फिल्म का रूप दे डाला। साथ ही साथ **दो बीघा जमीन** के साथ बिमल रॉय प्रोडक्शन्स भी अस्तित्व में आया। यह फिल्म आज तक अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय व सुपरिचित फिल्म है। यह भारत की सुपरिचित फिल्मों में से एक है जिसे वेनिस, कार्लोवी वारी और कई अन्य जगहों पर पुरस्कार मिले। एक बार बिमल रॉय प्रोडक्शन्स

स्थापित हुआ। तो बिमल रॉय ने बाहरी निर्माताओं के लिए फिल्में बनाना बंद कर दिया। **यहूदी** और **बाप-बेटी** इसके अपवाद थे क्योंकि वैनर के आने से पहले ही उनके अनुबंध हो चुके थे।

बिमल रॉय ने १९५६ में **देवदास** को पुनर्निमित किया। उनकी अंतिम फिल्म थी **बंदिनी**। उनकी तकरीबन सभी फिल्मों, फिल्म डिवीजन ऑव इंडिया के लिए बनाये गये वृत्तचित्रों जैसे **गौतम द बुद्ध** और **स्वामी विवेकानंद** को अनेक पुरस्कार व प्रशंसात्मक उल्लेख प्राप्त हुए। उनके कुछ सहकर्मी जैसे नवेन्दु घोष, गुलजार, ऋषिकेश मुखर्जी, बासु भट्टाचार्य सुधेन्दु राय और कई अन्य प्रमुख निर्देशक और सम्मान्य तकनीशियन के रूप में भारतीय फिल्म उद्योग में स्थापित हैं।

साठ के दशक के प्रारंभ में काले धन के आगमन से बंबई का फिल्म उद्योग एक भारी विकृति का शिकार हो गया। ऐसे में बिमल रॉय ने बंबई के ग्यारह प्रतिष्ठित निर्माताओं को साथ लेकर यूनाइटेड प्रोड्यूसर्स गठित की। वे इस समूह के नेतृत्वकर्ता थे। उन्होंने इस उद्योग को संकट से बचाने का भरपूर प्रयास किया। काले धन को इस्तेमाल न करते हुए उन्होंने ईमानदार तरीकों से कदाचारों के खिलाफ संघर्ष किया, जो बाद में आने वाले समय में उद्योग को भारी क्षति पहुँचाने वाले थे।

जब एक संक्षिप्त बीमारी के बाद बिमल रॉय का देहावसान हुआ तो उद्योग ने अपने सबसे अधिक आदरणीय नायक को खो दिया। ८ जनवरी, १९६६ को उनकी अंतिम यात्रा में पूरे उद्योग की हस्तियाँ शरीक थीं— और संपूर्ण भारत एक ऐसे फिल्मकार की मृत्यु पर दुःखी हो रहा था जो लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के मनो-मस्तिष्क की भावनाओं को समझ् सकता था और व्यक्त भी कर सकता था।

अब भी जबकि बिमल रॉय की मृत्यु को एक चौथाई सदी बीत चुकी है, दर्शक उन्हें गहरे अनुराग के साथ याद करते हैं और ऐसा बहुत थोड़े फिल्मकारों के साथ होता है।

☐ रिंकी भट्टाचार्य

बिमल राय
फिल्मोग्राफी

वृत्तचित्र

वर्ष	फिल्म	भूमिका	निर्माता
१९३२/३३	हाऊ केरोसिन टिन्स आर मेड	कैमरामैन	बर्मा शैल
१९३२/३३	ग्रांड ट्रंक रोड	कैमरामैन	बर्मा शैल
१९४३	बेंगाल फेमिन	कैमरामैन	
१९५७	गौतम द बुद्ध		
१९६४	स्वामी विवेकानंद		
	सांँची		
	बोर्ट–मेन ऑफ गंगा		

फीचर फिल्म

वर्ष	फिल्म	भूमिका	निर्माता
१९३४	गृहदाह	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९३४	नल्ला तंगा	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स

१९३४	डाकू मंसूर	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९३५	देवदास	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९३६	मंजिल	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९३६	माया	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९३७	मुक्ति	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९३८	अभागिन	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९३९	बड़ी दीदी	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९४०	हार जीत	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९४२	मीनाक्षी	कैमरामैन	न्यू थिएटर्स
१९४४	उदयेर पा...	निर्देशक, कैमरामैन, संयुक्त पटकथा	न्यू थिएटर्स
१९४५	हमराही	निर्देशक, कैमरामैन, पटकथा	न्यू थिएटर्स
१९४८	अंजानगढ़	निर्देशक, पटकथा	न्यू थिएटर्स
१९४९	मंत्र मुग्ध	निर्देशक	न्यू थिएटर्स
१९५०	पहला आदमी	निर्देशक	न्यू थिएटर्स
१९५२	माँ	निर्देशक, पटकथा	बॉम्बे टॉकीज
१९५३	दो बीघा जमीन	निर्माता–निर्देशक	बिमल रॉय प्रोडक्शन्स
१९५३	परिणीता	निर्देशक, पटकथा	अशोक कुमार प्रोडक्शन्स
१९५४	बाप–बेटी	निर्देशक, पटकथा	मुंशी प्रोडक्शन्स
१९५४	बिराज बहू	निर्देशक	हितेन चौधरी प्रोडक्शन्स
१९५४	नौकरी	निर्माता–निर्देशक	बिमल रॉय प्रोडक्शन्स
१९५५	अमानत	निर्माता	,,
१९५५	देवदास	निर्माता–निर्देशक	,,
१९५६	परिवार	निर्माता	,,
१९५७	अपराधी कौन	निर्माता	,,
१९५८	मधुमती	निर्माता–निर्देशक	,,
१९५८	यहूदी	निर्देशक	बॉम्बे फिल्म्स्
१९५९	सुजाता	निर्माता–निर्देशक	बिमल रॉय प्रोडक्शन्स
१९६०	परख	निर्माता–निर्देशक	,,

१९६०	उसने कहा था	निर्माता	,,
१९६१	काबुलीवाला	निर्माता	,,
१९६२	प्रेम पत्र	निर्माता–निर्देशक	,,
१९६३	बंदिनी	निर्माता–निर्देशक	,,
१९६४	बेनजीर	निर्माता	,,
१९६८	दो दूनी चार	निर्माता	,,

१९७५ बिमल रॉय प्रोडक्शन्स के वैनर तले श्रीमती बिमल रॉय द्वारा चैताली फिल्म का निर्माण

बिमल रॉय

उदयेर पाथे

(बंगला/१९४४)

अनूप एक गरीब, बेरोजगार और साहित्यिक अभिरुचि का नवयुवक है। उसकी बहन सुमित्रा और उसकी माँ उसी पर आश्रित हैं।

सुमित्रा की धनवान सहेली गोपा उसे अपने घर पर एक पार्टी में आमंत्रित करती है पर सुमित्रा वहाँ से अपने दामन पर चोर होने का लांछन लेकर लौटती है।

अनूप अपने संपादक मित्र की सलाह से शहर के रईस राजेंद्रनाथ के यहाँ एक प्रचार अधिकारी के पद पर नौकरी कर लेता है। यहाँ अनूप को राजेंद्रनाथ के लिए भाषण लिखने पड़ते हैं। उसका लिखा पहला ही भाषण लोकप्रिय हो जाता है। राजेंद्रनाथ अब और अधिक शोहरत का दीवाना हो उठता है।

राजेंद्रनाथ की लायब्रेरी में भाषण लिखते समय अनूप की मुलाकात गोपा से हो जाती है। जैसे ही अनूप को मालूम पड़ता है कि गोपा के घर पर ही उसकी बहन

सुमित्रा की बेइज्जती हुई थी, वह नौकरी छोड़ देता है।

राजेंद्रनाथ का काम अनूप के बगैर नहीं चल पाता। वह अनूप के घर जाकर उसे एक और भाषण लिखने के लिए राजी कर लेता है। वह उसके उपन्यास को छपवाने का वचन भी देता है और पांडुलिपि ले जाता है।

इस पांडुलिपि को गोपा अधूरे मन से पढ़ना शुरू कर देती है, परंतु बाद में वह बड़ी प्रभावित होती है। लेखक अनूप के प्रति उसका मद आदर से भर उठता है। इस उपन्यास में कामगारों की जिंदगी और उनकी समस्याओं को चित्रित किया गया था। गोपा मजदूरों के जीवन को गहराई से जानना चाहती है, इसलिए वह अनूप के साथ उनकी बस्तियों में जाती है। परंतु उनके बीच वह अपने आप को सहज महसूस नहीं करपाती। अनूप मजदूरों के साथ घुल-मिल जाता है, क्योंकि वह उन्हीं में से एक है। गोपा छुप-छुपकर मजदूरों की सभाओं में जाती है। यह बात राजेंद्रनाथ को पता हो जाती है और वह चिंतित हो उठता है। इसी बीच वह अनूप के उपन्यास को अपने नाम से छपवाकर एक महान उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्धि हासिल कर लेता है। गोपा को राजेंद्रनाथ की इस हरकत से गहरा सदमा पहुँचता है।

मजदूरों की विशाल सभा के दिन गोपा को इस बात की भनक पड़ जाती है कि उसका भाई राजेंद्रनाथ उस सभा को असफल करवाने के लिए कटिबद्ध है, चाहे इस प्रयास में मजदूर नेता अनूप की जान भी चली जाए। गोपा सभास्थल पर पहुँचती है। परंतु उसे जरा सी देर हो जाती है। वह अनूप को लहूलुहान अवस्था में पाती है। जब आखों में आँसू लिए गोपा अनूप को प्राथमिक चिकित्सा दे रही होती है तभी राजेंद्रनाथ आता है और गोपा को बलपूर्वक घर ले जाता है।

अगले दिन समाचार पत्रों में यह खबर छपी है कि एक लखपति की लड़की मजदूरों का साथ दे रही थी। यह बात राजेंद्रनाथ और गोपा के पिता तक पहुँचती है और गोपा को घर से बाहर नहीं निकलने दिया जाता। पर आखिरकार अपने दृढ़ निश्चय और साहस के सहारे वह घर से भागकर अनूप के साथ हो लेती है और दोनों जीवन-पथ पर सहयात्रियों की मानिंद चल पड़ते हैं।

निर्माण संस्था: **न्यू थिएटर्स**/ निर्माता: **बी. एन. सरकार**/ निर्देशक: **बिमल रॉय**/ कथा: **ज्योतिर्मय रॉय**/ पटकथा: **बिमल रॉय, निर्मल डे**/ गीत: **शैलेन रॉय और तीन गाने रवीन्द्रनाथ टैगोर के**/ संगीत: **रॉयचंद्र बोरल**/ छायांकन: **बिमल रॉय**/ ऑडियोग्राफी: **अतुल चट्टोपाध्याय**/ संपादन: **हरिदास महालनोबिस**/ कला: **सुरेन सेन**/ पात्र: **राधामोहन भट्टाचार्य, बिनता घोस, रेखामित्र, देवी मुखोपाध्याय, विश्वनाथ भादुड़ी, जीवन बसु, तुलसी चक्रवर्ती, माया बसु, देवबाला, राजलक्ष्मी।**

अजानगढ़

(हिंदी/१९४८)

अजानगढ़ भारत की एक छोटी सी रियासत है। परंतु वहाँ का शासक बड़ा ही क्रूर और शक्तिसंपन्न है।

रियासत न तो परंपरागत रीति-रिवाजों और न ही आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों के अनुसार चल रही है। वह तो महाराजाओं की इच्छानुसार चलती है। महाराज के शब्द कानून हैं और उनका निर्णय अंतिम। उसके खिलाफ उठने वाला हर

एक स्वर, चाहे वह जायज ही क्यों न हो, गैर-कानूनी है। रियासत में रहने वालों का अस्तित्व न के बराबर रह गया है। उनका काम है खेती करना, भारी कर चुकाना और न जाने कितने जुल्मों का शिकार होते रहना। बेगारी और चाकरी रियासत के मूलभूत सिद्धांत हैं।

रियासत को खदानें लीज पर उठा देने से भारी आमदनी होती है. परन्तु अजानगढ़ की खुदाई संघ को भारी नफा होने से महाराज मन ही मन नाखुश हो जाते हैं।

कोयले की खदानों से गरीब मजदूरों को जो नफा होता है, उससे उन्हें जीवन में पहली बार अपनी पैसा कमाने की क्षमताओं का पता पड़ता है। इस कारण बेगारी से उनका मन उचट जाता है। मजदूरों का अपने में एक नई ताकत का आभास होता है और इस ताकत का स्रोत हैं वृद्ध और आदरणीय डॉ . चौधरी, जिनके जीवन का एकमात्र आदर्श है दीन-दुखियों की सेवा करना।

डॉ . चौधरी के सच्चे शिष्य दौलत महतो एक प्रजामंडल समिति बनाते हैं जो रियासत के लोगों की खुशहाली के लिए कटिबद्ध है। लोग महसूस करते हैं कि अब महाराज के निरंकुश शासन के खिलाफ आवाज उठाने का समय आ गया है। डॉ चौधरी की पुत्री शुभा भी अपने पिता के आदर्शों से प्रभावित और प्रेरित है।

महाराज को इस आंदोलन के पीछे किसी का विद्रोही हाथ दिखाई देता है। हालाँकि उसे विद्रोहियों के नेता का पता नहीं चलता, परंतु उसे संदेह है कि खुदाई संघ ही लोगों में क्रांतिकारी भावनाएँ फैलाने के लिए जिम्मेदार हैं।

यह सच है कि महाराज के खिलाफ लोगों को भड़काने में संघ का अपना लाभ है, परंतु जनता को खुदाई संघ में विश्वास नहीं रह गया है।

वृद्ध दीवान को अक्षम समझकर महाराज श्री मुखर्जी को छोटे दीवान के रूप में नियुक्त करते हैं। मुखर्जी प्रशासन अपने हाथ में ले लेता है और जनता का शोषण करना शुरू कर देता है। सथ ही वह संघ पर आधिपत्य भी जमा लेता है। इस सबसे वृद्ध दीवान इस्तीफा देने पर मजबूर हो जाता है।

रियासत में नए-नए गठबंधन होने लगते हैं। और समय का फेर देखिए कि महाराज और खुदाई संघ मिल जाते हैं। दोनों प्रजा मंगल समिति को अपना शत्रु समझकर उसके विनाश के लिए एकजुट हो जाते हैं।

आखिरकार होनी होकर रहती है, इतिहास पलटा खाता है और महाराज का सबसे विश्वासपात्र सलाहकार छोटा दीवान मुखर्जी बहुत बदल जाता है। जन-आंदोलन को दबाने के लिए नियुक्त किया गया आदमी उन्हीं में से एक हो जाता है और अंततः दलित-शोषित जनता रियासत के प्रशासन में हिस्सेदार होकर रहती है।

निर्माण संस्था: न्यू थिएटर्स/ **निर्माता:** बी . एन . सरकार/ **निर्देशक:** बिमल रॉय/ **कथा:** सुबोध घोष/ **पटकथा:** बिमल रॉय/ **संवाद:** सुबोध घोष, मोहनलाल बाजपेयी/ **गीत:** पंडित भूषण, रमेश पांडे/ **संगीत:** आर . सी . बोराल/ **छायांकन:** कमल बोस/ **ऑडियोग्राफी:** बानी दत्त/ **संपादन:** एच . महालनोबिस/ **कला:** अनिल भट्टाचार्य, सुधेन्दु रॉय/ **पात्र:** साधना देवी, रामा नेहरू, हीराबाई, पारूलकर, मनोरमा, छबि रॉय, हीरालाल, अजय कुमार, बिपिन गुप्ता, रॉयमोहन, भूपेंद्र कपूर, नटवर, अंसारी, तुलसी, चक्रवर्ती, असित सेन।

पहला आदमी

(हिन्दी/१९५०)

आजाद हिंद फौज का राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए वीरोचित संघर्ष एक किवदंती बन चुका है। यह एक महान गाथा है, जिसमें असंख्य गाथाएँ बुनी हुई हैं–कष्ट, त्याग, बहादुरी और बलिदान की। **पहला आदमी** उन्ही अनकही गाथाओं में से एक है।

१९४३ में जब भारत में स्वतंत्रता आंदोलन जोर पकड़ चुका था, तब बर्मा में दो देशभक्त रहते थे —एक था प्रसिद्ध डॉक्टर और दूसरा एक निवृत्त व्यवसायी। जिस तरह डॉ . विजय कुमार और श्री चौधरी दोस्ती के पक्के धागों में बँधे हुए थे , उसी तरह उनकी संतानें कुमार और लता प्रेम के पवित्र बंधन में बँध गए थे। जीवन उनके लिए एक मधुर गान था और उन्हें अपने प्रेम की वैवाहिक परिणति में जरा भी संदेह नहीं था।

परंतु एन उसी वक्त सिंगापुर में बहादुर क्रांतिकारी सुभाषचंद्र बोस का आविर्भाव हुआ। नेताजी का आगमन दक्षिण-पूर्व एशिया में रह रहे भारतीयों के जीवन की बड़ी महत्वपूर्ण घटना थी। नेताजी के आगमन से आजाद हिंद फौज की रगों में एक नई ताकत दौड़ गई और विदेश में रहने वाला लगभग हर भारतीय उनके नेतृत्व में भारत की आजादी के हेतु लड़ने को तत्पर था।

वक्त के तकाजे को महसूस करते हुए कुमार भी आजाद हिंद फौज में भर्ती हो गया। इस वजह से लता के विवाह के सपनों को चोट पहुँची, परंतु भारत की अन्य वीरांगनाओं की तरह लता ने भी परिस्थितियों के साथ समझौता कर लिया।

कुमार को विदेशी भूमि से भारत का झंडा फहराने वाला **पहला आदमी** होने का अद्वितीय गौरव हासिल हुआ।

फिर नेताजी का नारा बुलंद हुआ "अपना सब कुछ दान देकर फकीर बन जाओ।" गरीबों-अमीरों, पुरुषों-महिलाओं, छोटे-बड़ों सभी ने अपनी क्षमता के अनुसार योगदान दिया। महिलाओं ने तो अपने सभी आभूषण दे डाले। डॉ . विजय कुमार ने समस्त सांसारिक वस्तुओं को न्यौछावर कर दिया और राष्ट्र के लिए अपनी सेवाएँ प्रदान कीं। रंगून में नेताजी का जन्मदिन बड़ी धूमधाम से मनाया गया। लोगों ने उन्हें सोने से तौला। यह भारत की स्वतंत्रता की वेदी पर एक और भेंट थी, वह स्वतंत्रता जो निकट भविष्य में हासिल होने वाली थी।

निर्माण संस्था: **न्यू थिएटर्स**/ निर्माता: **बी . एन . सरकार**/ निर्देशक: **बिमल रॉय**/ कथा: **नासिर हुसैन**/ पटकथा: **बिमल रॉय**/ संवाद: **नासिर हुसैन, पंडित भूषण**/ गीत: **प्रो . ले . प्रकाश**/ संगीत: **आर . सी . बोराल**/ छायांकन: **कमल बोस**/ ऑडियोग्राफी: **लोकेन बोस**/ संपादन: **हरिदास महालनोबिस**/ कला: **सुधेंदु रॉय**/ पात्र: **स्मृति विश्वास, अशिता बोस, बलराज विज, विजय कुमार, पहाड़ी सान्याल, पौल महेंद्र, हीरालाल, असित सेन, भूपेंद्र कपूर, जहर रॉय, प्रेमचरण, के . सी . शर्मा, बेला बोस, श्रीमती, पर्वत कुमार।**

माँ

(हिन्दी/१९५२)

माँ, अम्मा, अम्मी या चाहे जिस नाम से भी बच्चा अपनी माँ को पुकारे, वह बच्चे के लिए प्यार और ममता का एक अथाह सागर है। बच्चे के लिए माँ सब कुछ है और वयस्क के लिए सांत्वना का स्रोत। ममतामयी और देवीस्वरूप माँ के स्नेह और

बलिदान के बारे में असंख्य प्रेरणादायी कहानियाँ युगों-युगों से लिखी जाती रही हैं।

दो भाइयों राजन और भानु की माँ ऐसी ही थी। उनके पिता चंद्रबाबू एक सेवानिवृत्त पोस्टमास्टर थे , जो इस बुढ़ापे में भी अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए चंद्रपुर गाँव के जमींदार की नौकरी करते थे , ताकि उनके जीवन की शाम सुख-शांति में व्यतीत हो।

बड़ा भाई राजन अपनी वकालत की परीक्षा के आखिरी साल में था। उसकी पत्नी पद्मा एक ऊँचे घर की नकचढ़ी लड़की थी, जो भानु को नापसंद करती थी और अपने पति को दबाकर रखती थी।

छोटा भाई भानु खुशमिजाज, चतुर और समझदार नौजवान था, जो गरीबों की सहायता के लिए हमेशा तैयार रहता था। स्वदेशी आंदोलन के चलते वह पढ़ाई को तिलाँजलि दे चुका था और वह भी कॉलेज के आखिरी साल में। भानु के पढ़ाई छोड़ने पर उसके पिताजी उससे रुष्ट हो गए। इन परिस्थितियों में राजन गरीब पिता का एकमात्र सहारा बन गया।

भानु और स्कूल के हेडमास्टर रामनारॉयण की लड़की मीना में दोस्ताना ताल्लुकात गहरे हो गये थे । रामनारॉयण तो भानु के गुणों व चरित्र से इतना प्रभावित था कि उसने कई अच्छे रिश्तों को छोड़कर अपनी लड़की की शादी भानु से करने का फैसला कर लिया। यह पता पड़ते ही भानु और मीना की खुशियों का पारावार न रहा। राजन को अंतिम परीक्षा के लिए तीन सौ रुपये चाहिए थे । चन्द्रबाबू ने, जो अपने भविष्य की उम्मीद राजन से लगाये बैठे थे , यह राशि जुटाने के लिए पुरजोर कोशिश की पर इंतजाम नहीं हो सका। पद्मा ने अपने पैसे देने से इंकार कर दिया। इस सबने चन्द्रबाबू को बड़ा विचलित कर दिया।

एक रात जब भानु किशनगढ़ के मेले से लौट रहा था, तो उसने "चोर, चोर" की आवाजें सुनीं और कुछ लोगों को अँधेरे में एक व्यक्ति का पीछा करते देखा। वह भी दौड़ा और वह ठगा रह गया जब उसने बिजली की चमक में चोर की जगह अपने पिता को देखा। अपराधी पिता बस इतना ही कह सका, "राजन की फीस के पैसे जुटाने के लिए मैं . . ."। भानु स्थिति की गंभीरता को समझकर दौड़ती भीड़ के आगे भागा। उसे चोर समझकर पकड़ लिया गया और एक साल की जेल हो गयी।

मीना और उसके पिता की नजरों से भानु गिर गया। मीना और भानु की सगाई तोड़ दी गयी। अपराध-बोध के कारण चन्द्रबाबू बीमार हो गया। अंततः पद्मा ने अपने पैसों से राजन की परीक्षा फीस भरी। अगर उसने यह पहले ही कर दिया होता, तो कई लोगों की जिंदगियाँ पलटा खाने से बच जातीं। राजन ने परीक्षा पास कर वकालत की प्रैक्टिस शुरू कर दी। एक साल बाद भानु जेल से छूट जाता है। उसी दिन मीना की सगाई किसी और से होने जा रही थी। भानु ने मीना से मिलकर उसकी गलतफहमियाँ दूर कीं। मीना ने उससे अनुरोध किया कि वह वस्तुस्थिति से उसके पिता को भी अवगत कराये। परंतु भानु सहमत नहीं हुआ। भानु अपने पिता को देखने भी गया, परंतु रास्ते में ही उसे राजन मिल गया। राजन ने उसे बताया कि माता-पिता ने भानु का चेहरा न देखने की कसम खायी है। भानु इस बात से बड़ा दुःखी होकर लौट गया।

भानु के लौटने की खबर सुनकर उसके बीमार पिता प्रसन्न होते हैं, परंतु जब उन्हें पता पड़ता है कि वह वापस चला गया है तो गहरे सदमे से उन्होंने प्राण त्याग दिये। बूढ़ी माँ भानु-भानु पुकारती पागलों-सी सड़कों पर इस आशा में घूमती रही कि किसी दिन भानु लौटकर जरूर आयेगा। परंतु लोगों द्वारा ऐसा सुनने में आया कि भानु तो मर चुका है।

अपनी पत्नी की मुट्ठी मे कैद राजन ने अपनी माँ का बिलकुल ध्यान नहीं रखा। अपनी माँ के लिए एक फूटी कौड़ी खर्च करना भी उसकी नजर में गुनाह था। एकाकी और बेसहारा माँ ने अकथनीय पीड़ाएँ सहीं जब तक कि उसके छोटे बेटे ने परिस्थितियो को अपने हाथ में लेकर सारी बुराईयाँ खत्म न कर दिया।

निर्माण संस्था: **बॉम्बे टॉकीज**/ निर्माता: **अशोक कुमार/सेवक वच्छा**/ निर्देशक: **बिमल रॉय**/ कथा: **स्वराज बैनर्जी**/ पटकथा: **बिमल रॉय**/ संवाद: **नबेंदु घोष**/ गीत: **भरत व्यास**/ संगीत: **एस . के . पाल**/ छायांकन: **जोसेफ विरसचिंग**/ ऑडियोग्राफी: **जे. एम . बरोट**/ संपादन: **ऋषिकेश मुखर्जी**/ कला: **डी . एन . आधव**/ पात्र: **लीला चिटनिस, भारत भूषण, श्यामा, नासिर हुसैन, कुमुद, पौल, महेंद्र, मंजू, बी . एम . व्यास, कुसुम देशपांडे, अचला सचदेव, भूपेन कपूर, विक्रम कपूर, असित सेन, कृष्णकांत, मास्टर छोटू।**

दो बीघा जमीन

(हिन्दी/१९५३)

भारत एक कृषि प्रधान देश है, इसलिए इस देश का सुख-दुःख उसमें रहने वाले करोड़ों किसानो के सुख-दुःख पर निर्भर करता है।

दो साल के सूखे के कारण जनता बड़ी बेहाली में दिन काट रही थी। आखिरकार पानी बरसा। सब खुश होकर नाचने-गाने लगे।

शंभू अपने वृद्ध पिता, अपनी पत्नी पार्वती और पुत्र कन्हैया के साथ रहता था। वे सब भी वर्षा का स्वागत करते हुए नाचने-गाने लगे। परंतु शंभू की खुशी क्षणिक साबित हुई। जमीदार ने फैक्टरी बनवाने के लिए उसकी दो बीघा जमीन माँगी। पर चूँकि यह जमीन उसकी जीविका का एकमात्र साधन थी, इसलिए शंभू ने अपनी पुश्तैनी जायदाद देने से इंकार कर दिया।

जमीदार ने कोर्ट में जाकर जोड़-तोड़ करके यह आदेश हासिल कर लिया कि या तो शंभू तीन महीने में जमीदार का कर्ज अदा कर दे या फिर उसकी जमीन जब्त की ली जाएगी। जमीदार के जमीन हथियाने के प्रयत्नों से शंभू का यह निश्चय और दृढ़ हो गया कि वह जमीन को हाथ से निकलने नहीं देगा। उसके मित्रों ने उसे सलाह दी कि निर्धारित समयावधि में पैसा जुटाने के लिए उसे कलकत्ता जाना चाहिए। जहाँ वह आसानी से इतने पैसे कमा सकता है। और शंभू कलकत्ता के लिए निकल पड़ा। उसका पुत्र भी उसके साथ हो लिया। दोनों गाँव के निवासियों ने बड़े शहर के वातावरण में अपने आप को असहज पाया। उनके पास सिर छुपाने के लिए जगह नहीं थी। ऊपर से कन्हैया बीमार पड़ गया। जैसे दुर्भाग्य उनके पीछे पूरी तरह से लग गया था, उसका सामान भी चोरी हो गया।

इन बाधाओं से विचलित न होते हुए शंभू ने बस्ती क्षेत्र में रहना शुरू कर दिया, जहाँ गरीब तबके की रिहायश है। यहाँ उसने एक बूढ़े रिक्शा खींचने वाले की मदद की, जो उसका दोस्त बन गया।

शंभू ने रिक्शा खींचनेवाला बनने का निर्णय लिया और बूढ़े रिक्शे वाले ने उसे इस धंधे के गुर सिखाए। शंभू का पुत्र कन्हैया भी बूट-पॉलिश करके थोड़े बहुत पैसे कमा लेता था। गाँव में शंभू की पत्नी पार्वती एक ठेकेदार के यहाँ काम करने लगती है।

ठीक उसी समय जब शंभू को लगता है कि वह अपनी जमीन को बचाने में सफल हो जाएगा, उसके साथ एक दुर्घटना हो गई और वह बिस्तर से लग गया। कन्हैया भी बेकार हो गया, क्योंकि उसके बूट-पॉलिश के सामान का झोला गुम गया था। जैसे-जैसे मियाद का समय खत्म होता गया, शंभू चिंतित होता गया। गंभीर बीमारी की हालत में भी वह काम पर जाना चाहता था। अपने पिता के स्वास्थ्य के प्रति चिंतातुर कन्हैया ने अपनी माँ को पत्र लिखकर कलकत्ता आने का अनुरोध किया, ताकि उनकी सहायता से वह अपने पिता को रिक्शा खींचने से रोक सके। परन्तु कलकत्ता पहुँचने पर पार्वती एक शहरी गुंडे के जाल में फँस जाती है और बचने का प्रयास करते हुए एक गंभीर दुर्घटना की शिकार हो गई। जनता ने उसे अस्पताल पहुँचाने के लिए शंभू रिक्शा वाले को आवाज दी और यह दृश्य देखकर शंभू को बड़ा धक्का लगा।

कन्हैया बुरी सोहबत में पड़ गया। चोरी करके पैसा कमाने की आसानी ने उसे चोरी करने के लिए उकसाया, हालांकि इस आदत के कलिए उसका पिता उसे दंड भी देता था। ऐसे में उसकी अपनी माँ से एक नाजुक मोड़ पर मुलाकात हुई और उसने चुराए हुए नोट फाड़ दिए। शंभू और कन्हैया द्वारा मेहनत करके कमाया गया धन पार्वती के इलाज पर खर्च हो गया।

जब वे तीनों अपने गांव लौटे तब उनकी जमीन नीलाम की जा चुकी होती है और उस पर एक फैक्टरी बन रही होती है। यह देखकर बूढ़ा पिता पागल हो गया। शंभू ने अपनी जमीन से एक मुट्ठी धूल उठानी चाही, परंतु चौकीदार को उस पर शक हो गया और वह उसकी मुट्ठी खाली करवाकर ही माना। तीनों एक नई जिंदगी शुरू करने के लिए कहीं और के लिए चल पड़े।

निर्माण संस्था: **बिमल रॉय प्रोडक्शन्स**/ निर्माता-निर्देशक: **बिमल रॉय**/ कथा: **सलिल चौधरी**/ पटकथा: **ऋषिकेश मुखर्जी**/ संवाद: **पौल महेंद्र**/ गीत: **शैलेंद्र**/ संगीत: **सलिल चौधरी**/ छायांकन: **कमल बोस**/ ऑडियोग्राफी: **एस्सा एम. सूरतवाला**/ संपादन: **ऋषिकेश मुखर्जी**/ कला: **गणेश बासक**/ पात्र: बलराज साहनी, निरूपा रॉय, रतन कुमार, मुराद, नाना पलसीकर, नासिर हुसैन, मिश्रा, राजलक्ष्मी, नूर, जगदीप, तिवारी, दिलीप जूनियर, नंदकिशोर, मेहमूद, मेहमान कलाकार—मीना कुमारी।

परिणीता

(हिन्दी/१९५३)

ललिता गरीब पर ईमानदार क्लर्क गुरुचरण की अनाथ भांजी है, जो सुंदर और संवेदनशील लड़की है और जिसे सभी चाहते हैं। गुरुचरण के पड़ोस में रहने वाले धनी जमींदार के कछोटे पुत्र शेखर को ललिता बहुत मान देती है। उसका कमरा झाड़ देना, उसका नाश्ता तैयार करना, उसकी जरूरतों और सुविधा का ख्याल रखना—ललिता

की दैनंदिन में यह सब शरीक था। ललिता के निःस्वार्थ स्वभाव से प्रसन्न होकर शेखर की मां उसे अपनी लड़की की तरह चाहती है।

दोनो घरों की छतें जुड़ी हुई हैं और इसी रास्ते ललिता और उसकी छोटी बहन कूदती-फाँदती हुई शेखर के घर आती-जाती हैं। दोनों के आपसी संबंध बड़े पवित्र हैं। दोनों ही शारीरिक प्यार की भावनाओं से अछूते हैं। पर खेल ही खेल में एक-दूसरे के गले में फूल-मालाएँ डाल देना ललिता को चुपचाप एक लड़की से विवाहित औरत बना देता है।

गुरुचरण को अपना घर शेखर के पिताजी के पास गिरवी रखना पड़ता है ताकि वह अपनी लड़कियों की शादी कर सके। गुरुचरण पर कर्ज काफी हो गया था। शेखर के निर्दयी और स्वार्थी पिता गुरुचरण को बार-बार तकाजे करते हैं कि वह कर्ज की रकम लौटा दें। और एक दिन कर्ज के बोझ तले दबा गुरुचरण गिरीन नामक धनी और भले युवक से बिना ब्याज के कर्ज ले लेता है, ताकि वह शेखर के पिता का कर्ज उतार सके। इस घटना से यह गलतफहमी उत्पन्न हो जाती है कि ललिता पैसे के लिए गिरीन के हाथों बेच दी गई है। शेखर को अब तक इस बात का ऐहसास हो चुका होता है कि वह और ललिता एक-दूसरे को प्रेम करते हैं। परंतु इस घटना के बाद उसकी भावनाओं की गर्मी ठंडी पड़ जाती है। शेखर के पिता और गुरुचरण के संबंधों में कड़ुवाहट घुल जाती है। शेखर के पिता दोनों घरों के बीच एक दीवार बनवा देते हैं, ताकि आवाजाही रुक सके। और इस तरह से सच्चा प्रेम विनाश की कगार पर पहुँचता प्रतीत होता है।

ललिता का प्रेम मूक है और वह ठुकराई हुई लड़की के तमाम दुःखों को दार्शनिक मौन में सहन करती है। उसने अपने हृदय के सिंहासन पर शेखर को बिठा लिया है, परंतु न तो वह शिकायत करती है और न ही मिन्नतें। दोनों प्रेमियों के बीच की दूरी तब और बढ़ जाती है, जब गुरुचरण का परिवार दूसरे शहर में जाकर गिरीन के घर में रहने लगता है। कुछ समय पश्चात दोनों के पिता मर जाते हैं।

जब गिरीन ललिता के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है, ताकि वह उसके मृत मामा की अंतिम इच्छा पूरी कर सके, तब ललिता यह बताने पर मजबूर हो जाती है कि वह किसी और की **परिणीता** है। इससे गिरीन का दिल टूट जाता है। परंतु अपने भोलेपन के कारण वह परिवार की दूसरी लड़की से शादी करने को सहमत हो जाता है।

इस बीच शेखर की शादी तय हो जाती है और गुरुचरण का परिवार इस अवसर पर आता है। शेखर ललिता की दुर्दशा पर ताना मारता है और ललिता की बात सुनने के लिए नहीं रुकता। शेखर को झटका तब लगता है, जब गिरीन यह रहस्योद्घाटन करता है कि ललिता अभी तक शादी-शुदा नही है और गिरीन की शादी उसकी छोटी बहन से हुई है। यह बात पता पड़ने पर शेखर और ललिता की शादी हो जाती है।

निर्माण संस्था: **अशोक कुमार प्रॉडक्शन्स**/ निर्माता: **अशोक कुमार**/ निर्देशक: **बिमल रॉय**/ कथा: शरत चंद्र चटर्जी के उपन्यास पर आधारित/ पटकथा: **बिमल रॉय**/ संवाद: **नबेंदु घोष, वृजेंद्र गौर**/ गीत: **भरत व्यास**/ संगीत: **अरुण कुमार मुखर्जी**/ छायांकन: **कमल बोस**/ ऑडियोग्राफी: **शेरली पबानी, जे . एम . बारोट**/ संपादन: **ऋषिकेश मुखर्जी**/ कला: **जाधव राव**/ पात्र: **अशोक कुमार, मीना कुमारी, असित बरन, देवी शीला, नासिर हुसैन, बद्रीप्रसाद, प्रतिमा देवी, रेखा, मंजु, मनोरमा, एस . बैनर्जी, नयना, सरिता, जी . वैद्य, भूपेन कपूर।**

बाप-बेटी

(हिन्दी/१९५४)

एक छोटे से हिल स्टेशन की नीरवता में लड़कियों का एक स्कूल है। एक ही हफ्ते पहले उसमें मीना नाम की दस वर्षीय लड़की को दाखिल किया गया है। माया, राधा आदि लड़कियाँ उसकी सहेली बन जाती है परन्तु गीता, चमेली आदि उससे ईर्ष्या करने लगती हैं। मीना स्कूल के नए वातावरण में दुःखी महसूस करने लगती है और गीता इस कारण मीना को चिढ़ाती है। माया मीना का पक्ष लेती है और गीता से उसकी इसी बात पर लड़ाई हो जाती है।

एक दिन जब लड़कियों को पत्र वितरित किए जाते हैं तब वे आपस में बात करती हैं कि माता या पिता दोनों में से किसका पत्र आया। मीना को छोड़कर सभी लड़कियों के पास उनके माता और पिता दोनों के पत्र आते हैं। गीता फिर मीना को छेड़ती है कि उसके पिता का पत्र क्यों नही आया। मीना उसे अपने पिता का पत्र दिखाने का वादा करती है। उस रात वह अपनी माँ को पत्र लिखकर अनुरोध करती है कि वह उसे उसके पिता का पता लिख भेजे। बचपन से ही उसने अपने पिता को कभी नहीं देखा था। उसकी माँ ने उसे सिर्फ इतना बताया था कि वे कही दूर रहते हैं और जल्द ही लौट आयेंगे।

मीना की माँ ने उस पत्र का कोई जवाब नही दिया। गीता और बाकी लड़कियाँ इस बात को लेकर मीना का बारम्बार अपमान करती रही और मीना का बाल-सुलभ हृदय इन व्यंग्य-बाणों से टूट गया। एक शाम जब वह एकांत में रो रही होती है तब इन सिसकियों से स्कूल के बूढ़े क्लर्क विश्वनाथ बाबू का ध्यान आकर्षित होता है। जब उसे पूरी बात पता पड़ती है, तब वह उससे वादा करता है कि वह उसके पिता के नाम से उसे पत्र लिखेगा।

विश्वनाथ यही करता है और इस पर गीता कुछ दिनों तक चुप रहती है। एक दिन गीता के पिता उससे मिलने आते हैं। गीता इस पर मीना को उलाहना देती है कि उसके पिता उससे मिलने नहीं आते। मीना अहं के इस युद्ध में हारना नही चाहती और बिना सोचे-समझे कह देती है कि उसके पिता पाँच दिन बाद उससे मिलने आ रहे हैं। गीता उससे कहती है कि छठवें दिन मीना के पिताजी आ जाना चाहिए। इस पर मीना चिंतित हो जाती है और इस बारे में विश्वनाथ की सलाह माँगती है। उसकी सलाह के अनुसार वह सिर्फ दिखावे के लिए स्टेशन जाती है। ट्रेन आने पर वह ट्रेन से उतरने वाले एक आकर्षक अधेड़ श्री सिन्हा को अपनी समस्या बताती है। हालांकि श्री सिन्हा इस बात से बड़े आश्चर्य में पड़ जाते हैं परंतु उन्हें लड़की का आत्म-विश्वास पसंद आता है। मीना उनके होटल तक उनके साथ जाती है।

गीता और उसकी सहेलियों को अब यह विश्वास हो जाता है कि मीना झूठ नही बोली थी और उसके पिता वास्तव में अमीर हैं। उन्होंने यह खबर अपनी शिक्षिका तक पहुँचाई। शिक्षिका ने यह फैसला किया कि वह श्री सिन्हा से पुस्तकालय निधि के लिए चंदा लेने जाएँगी। यह बात पता पड़ते ही मीना श्री सिन्हा के पास अगली सुबह जाती है और उनके सामने स्थिति स्पष्ट कर देती है। श्री सिन्हा इस मामले में रुचि और सहानुभूति रखकर स्थिति को भली-भाँति सँभाल लेते हैं। मीना इस पर कृतज्ञ होती है

और जब-तब उनसे मिलने जाती रहती है।

इस भावुक चक्रव्यूह में उन दिनों के बीच पिता-पुत्री का रिश्ता कायम हो जाता है। जहां एक ओर उसे उसके पापा मिले, वही दूसरी ओर श्री सिन्हा को भी और भले होने में मदद मिली।

निर्माण संस्था : मुंशी प्रोडक्शन्स/ निर्माता : एस .एच .मुंशी/ निर्देशक : बिमल रॉय कथा : नबेन्दु घोष/ पटकथा : बिमल रॉय/ संवाद : मोहनलाल वाजपेयी/ गीत : प्रदीप/ संगीत : रोशन/ छायांकन : कमल बोस/ ऑडियोग्राफी : सी म साहा/ संपादन : ऋषिकेश मुखर्जी/ कला : गुरजीत सिंह/ पात्र : रंजन घेयी, तबस्सुम, मृनालिनी वेवी, नासिर हुसैन, नाना पलसीकर, बेबी नाज, सविता, नलिनी, अंजु, कांता कुमारी, सी एल शाह, कृष्णकांत, अनवरी बाई, डोली, मृदुला।

बिराज बहू

(हिन्दी/१९५४)

सौन्दर्य प्रभु की देन है। फिर भी यह विध्वंसात्मक और विनाशक होता है। सुन्दर स्त्रियों के लिए संसार में न जाने कितने युद्ध हुए हैं और अधिकतर यह देखा गया है कि सुन्दरता वरदान कम, अभिशाप ज्यादा होती है।

बिराज ऐसे ही असीम सौन्दर्य की मलिका थी। परंतु वह अपने पति के प्रति बड़ी वफादार थी और उसे अपने पति के प्रेम पर बड़ा गर्व था।

बिराज के लंबे सुन्दर पति नीलाम्बर की आवाज में जैसे जादू था। वह अपने भक्ति–गीतों और ग्रामीणों के कल्याण हेतु निःस्वार्थ सेवा के लिए प्रसिद्ध थे। वह सांसारिक स्वार्थों से अछूते भी थे।

उनका छोटा भाई पीताम्बर बिल्कुल उनके विपरीत था चाहे वह शारीरिक सौन्दर्य हो या सामाजिक मामले। वह एक स्वार्थलोलुक व्यक्ति था और अपनी पत्नी का बिल्कुल विश्वास नही करता था। जब अपनी इकलौती बहन की शादी में भारी दहेज और अन्य खर्च का प्रश्न उठा तो वह अपने भाई से अलग हो गया और पुश्तैनी जायदाद का बँटवारा कर लिया। नीलाम्बर ने अपनी हिस्से की जायदाद रेहन रख दी और उसकी सहयोगी पत्नी ने अपने गहने–जेवर भी उसे सहर्ष दे दिए। कुछ समय बाद आई आर्थिक तंगहाली भी उनकी प्रसन्नता को कम नहीं कर सकी। उनका प्रेम आपसी विश्वास की धरातल पर जो टिका था। अपने पति को बताए बिना बिराज ने गुड़िया बनाना शुरू कर दिया और उन्हें बेचकर घर का खर्च चलाती। इस पर भी उनके जीवन में कोई समस्या उत्पन्न नही हुई। परन्तु जैसे ही गाँव में एक नया सजीला नौजवान नए जमींदार के रूप में आया इस छोटे से घर की परेशानियां शुरू हो गई थी। बिराज की सुन्दरता से आंदोलित होकर जमींदार ने उसे हासिल करना अपना मकसद बना लिया और बिराज की लालची नौकरानी सुन्दरी को अपने मोहरे के रूप में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया।

बिराज की सुन्दरता ने, जो उसके पति में सम्मान के भाव जगाती थी, शक्ति–संपन्न जमींदार के ह्रदय में वासना की भूख जगाई और अपनी गरीबी, बदहाली, लाचारी पर बिराज संवादहीन उन्माद की शिकार होकर गुस्से से भर उठी, जो बरसों की परेशानियों से भी संभव न हुआ, वह क्रोध ने कर दिखाया। उसकी

जिंदगी में कड़वाहट आ गयी। वह अपने पति की आर्थिक असफलता को महसूस करने लगी जिसकी तरफ उसका ध्यान भी न जाता था और जिसका उसके लिए पहले कोई महत्व भी न था। वह औरत जिसकी सबसे बड़ी तमन्ना थी कि वह अपने पति के चरणों में मरने का सौभाग्य प्राप्त करें, वही औरत एक रात को दुर्भाग्यवश अपने आपको जमींदार के शिकारे में गाँव से दूर बहते हुए पाती है। इस तरह से एक आदर्श जोड़ा टूट जाता है। बिराज हालाँकि अपनी आबरू बचाने में कामयाब हो जाती है परंतु वनवास की सीता की तरह वह भी अपने पति के पास वापस नही लौट सकती। और जब वह लौटती है तब तक बहुत देर हो चुकती है।

निर्माण संस्था: **हितेन चौधरी प्रोडक्शंस**/ निर्माता: **हितेन चौधरी**/ निर्देशक: **बिमल रॉय**/ कथा: **शरत्चंद्र चटर्जी** के उपन्यास पर आधारित/ पटकथा: **नबेन्दु घोष**/ संवाद: **नासिर हुसैन**/ गीत: **प्रेम धवन**/ संगीत: **सलिल चौधरी**/ छायांकन: **दिलीप गुप्ता**/ ऑडियोग्राफी: **एस्सा एम. सूरतवाला**/ संपादन: **ऋषिकेश मुखर्जी**/ कला: **सुधेन्दु रॉय**/ पात्र: **कामिनी कौशल, अभि भट्टाचार्य, प्राण, शकुन्तला, रणधीर, मनोरमा, कम्मो, विक्रम कपूर, बेबी चांद, इफ्तिखार, मोनी चटर्जी, सरिता दायी, शिओजी भाई, माया दास, दशरथ लाल, शरीफा।**

नौकरी

(हिन्दी/१९५४)

रतन उन लाखों करोड़ों नौजवानों में से एक है जो स्कूलों और कॉलिजों से हर साल निकलते हैं और अपनी शिक्षा खत्म करके आशा और उत्सुकता से संसार में कदम रखते हैं।

रतन की बहन काफी अरसे से बीमार है और उसका परिवार गरीब। परंतु रतन बी.ए. पास करने के बाद इस दृढ़ विश्वास में जीता है कि उसे एक अच्छी नौकरी मिल जायेगी, जिससे उसकी बीमारी बहन का इलाज हो सकेगा और उसकी बूढ़ी माँ अच्छे दिन देख सकेगी।

रतन कलकत्ता जाता है जहाँ उसके पिता के एक मित्र ने उसे नौकरी दिलवाने का वचन दिया था। जिस हॉस्टल में रतन ठहरता है, वहाँ उसे कई युवक और मिलते हैं जो मिलकर एक खुशनुमा जिंदगी जी रहे हैं। गणेश को हमेशा भूख लगती रहती है और वह हर आगंतुक के डिब्बो में लड्डू तलाशता फिरता है। अति-आशावादी सुरेश अखबारों के संपादकियों और राजनेताओं के भाषणों में कही गई इस बात को कि दुनिया एक माह में सुधर जाएगी, सच मान बैठता है। ललित मनही कविताएँ लिखता है और पड़ोस में रहने वाली बालाओं के साथ नैनमटक्का करता है। ज्ञान सेन तो जैसे तानसेन का छोटा भाई था जो पक्का राग गाकर देर से उठने वालो की शांतिपूर्ण निद्रा में खलल डालता था। वफादार बूढ़ा नौकर हरिया अपने मस्ती भरे नाच और ऊटपटाँग गीतों से रतन बाबू का जी बहलाता है।

और वहाँ पर है टूटा हुआ शंकर जो अपनी निराशावादी बातों से बाकी नौजवानों के अटूट आशावाद पर चोट करता रहता है।

साथ ही वहाँ पर आकर्षक सीमा भी है। सीमा का दिल पढने में तभी लगता है, जब वह रतन के कमरे के सामने वाली खिड़की पर बैठकर पढ़ती है और कुछ ही समय

बाद रतन यह महसूस है कि उसे सीमा से प्यार हो गया है। परंतु सच्चे प्यार का रास्ता आसानी का रास्ता नहीं होता। सीमा के पिता को यह मंजूर नहीं कि उनकी बेटी का भाग्य किसी बेरोजगार के भाग्य के साथ जोड़ दिया जाए। वे इस रिश्ते के लिए राजी हो सकते है जब रतन को एक अच्छी–सी नौकरी मिल जाए।

नौकरी की तलाश मे रतन बंबई आ जाता है और यहां वह नए–नए अनुभवों से दो–चार होता है। अब रतन जीवन को उसकी समग्रता में देखता है और खट्टे–मीठे अनुभवों से गुजरते हुए भी हमेशा आशावान रहता है। सभी बाधाओं को पार कर सफलता प्राप्त करना उसका दृढ़ निश्चय है।

रतन की यह दशा और सरकारी नौकरी के लिए भटकना सिर्फ उसी की नही. असंख्य युवा लोगों की भी कहानी है जो डिग्री हासिल करने के बाद भी नौकरी हासिल नहीं कर पाते। नौकरीशिक्षा और रोजगार मुहैया करवाने की व्यवस्था के एक सिरे से सर्वेक्षण और सुधार की मांग करती है।

निर्माण संस्था **विमल रॉय प्रोडक्शंस**/ निर्माता–निर्देशक **विमल रॉय**/ कथा **सुबोध बसु**/ पटकथा **नबेन्दु घोष**/संवाद **पौल महेन्द्र**/ गीत **शैलेन्द्र** संगीत **सलिल चौधरी**/छायांकन **कमल बोस**/ ऑडियोग्राफी **ईसा बिलमोरिया**/ संपादन **ऋषिकेश मुखर्जी**/ कला **सुधेन्दु रॉय**/ पात्र **किशोर कुमार, शीला रमानी, कन्हैयालाल, नूर, अचला सचदेव. विक्रम कपूर, कृष्णकांत, तुलसी, चक्रवर्ती, सुनील, दासगुप्ता. अफिलखार, जगदीप, डब्ल्यू. एम. खान, सेमसन. भोनी चटर्जी।**

अमानत

(हिन्दी/१९५५)

जहाज से लौटते समय पुरुषोत्तम लाल को एक भारतीय अपनी अथाह दौलत सौंपकर मर जाता है। पुरुषोत्तमलाल उससे वादा करता है कि वह इस दौलत को उसकी पत्नी और उसके छोटे से बच्चे को सौंप देगा। वह उन्हें ढूंढने का प्रयास करता है परंतु असफल रहता है।

संसार के लिए पुरुषोत्तम लाल धनवान है। उसके दोस्त उसे व्यापार–व्यवसाय में पैसा लगाने के लिए ललचाते है और एक दिन वह लक्ष्मीदास के बहकावे में आकर एक मिल खरीद लेता है। कई साल गुजर जाते है। अब पुरुषोत्तम लाल के बाल सफेद होने लगे है। उसकी युवा पुत्री मीना उसकी सुख–सुविधा का ख्याल रखती है और वह अपने युवा पुत्र नरेश के लंदन से आने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता है।

नरेश भारत लौटता तो है पर वह यहां के लोगों को तुच्छ और यहाँ के जीवन को हेय मानता है। पुरुषोत्तम लाल अपने पुत्र को मिल सौंपकर खुद रिटायर हो जाता है।

पहले ही दिन नरेश की लोकप्रिय युवा मैकेनिक प्रदीप से झड़प हो जाती है जिसे कामगारों के साथ–साथ पुरुषोत्तम लाल भी चाहते थे।

संयोगवश मीनाऔर प्रदीप की मुलाकात होती है जो दोस्ती में बदल जाती है। प्रदीप और नरेश के बीच का फासला दिनों–दिन बढ़ता जाता है और नरेश यह ठान लेता है कि वह प्रदीप को बरबाद करके ही मानेगा

प्रदीप को अपनी बीमार मां क इलाज के लिए पैसों की जरूरत आ पड़ती है। परन्तु मदद करने के बजाय नरेश अपनी कुटिलता से प्रदीप को चोरी के इल्जाम में थाने

पहुँचवा देता है। हालांकि मीना ने गरीब वृद्ध और बीमार माँ को सान्त्वना देने का भरपूर प्रयत्न किया फिर भी इस धक्के से माँ को मरने से न बचा सकी। परंतु मरने से पहले उसने मीना को अपने दुखद जीवन की पूरी कथा सुना दी।

मीना के प्रयासों से प्रदीप छूट तो गया, परंतु अब उसमें एक बदलाव आ गया, परंतु अब उसमें एक बदलाव आ गया था। अपनी माँ की मौत और नरेश के बुरे बर्ताव ने उसके भीतर प्रतिशोध की भावना को उपजा दिया था।

नरेश ने मजदूरों को इतना उसका दिया कि पुरुषोत्तम लाल ने उसे मिल से निकाल दिया। इस पर नरेश ने बिहारी को मिल में आग लगाने का आदेश दिया। प्रदीप ने मिल को बचाना चाहा। दोनों की मुठभेड़ में नरेश का बिजली के नंगे तार पर गिरने से तत्क्षण प्राणांत हो जाता है।

प्रदीप पर यह इल्जाम था कि उसने नरेश का कत्ल किया है। पुरुषोत्तम लाल के पास सबूत होने के कारण इस मामले की सुनवाई के ठीक पहले पुरुषोत्तम लाल को यह पता पड़ गया कि प्रदीप ही उस दौलत का वास्तविक उत्तराधिकारी है, अमानत का जिसके बलबूते पर वह रईस बन बैठा था।

निर्माण संस्था: **विमल रॉय प्रोडक्शन्स**/ निर्माता: **विमल रॉय**/ निर्देशक: **अरविंद सेन**/ कथा: **प्रेमेन्द्र मित्र**/ पटकथा: **नबेन्दु घोष**/ संवाद: **पौल महेन्द्र**/ गीत: **शैलेन्द्र**/ संगीत: **सलिल चौधरी**/ छायांकन: **कमल बोस**/ ऑडियोग्राफी: **डिन्सा बिलमोरिया**/ संपादन: **दास दाइमडे**/ कला: **सुधेन्दु राय**/ पात्र: **भारत भूषण, चाँद उस्मानी, नासिर हुसैन, आशा माथुर, प्राण, अचला सचदेव, कृष्णकांत, राम कुमार, भूपेन कपूर, रुबी पॉल, पौल, महेन्द्र, असित सेन, अशीम कुमार, मदन गोपाल, कन्हैयालाल।**

देवदास

(हिन्दी/१९५५)

पार्वती और देवदास हर समय साथ रहते हैं। दोनों एक साथ स्कूल से भागते थे और एक साथ घूमते थे। देवदास गाँव के जमींदार का बेटा था और पार्वती पड़ोस में रहने वाली मध्यमवर्गीय पिता की पुत्री थी।

देवदास को पढ़ाई-लिखाई के लिए बूढ़े नौकर धर्मदास के साथ कलकत्ता भेज दिया गया। इस घटना से पार्वती और देवदास के मधुर संबंधों पर आघात हुआ। समय गुजरता गया और देवदास कुछ समय के लिए गाँव आया तब बचपन की यादों ने प्रेम का रूप धारण कर लिया। देवदास के साथ पार्वती की शादी की बात चली, परंतु देवदास के पिता ने इस रिश्ते से साफ इंकार कर दिया। पार्वती का परिवार सामाजिक स्थिति में उनसे नीचा जो था। इस पर पार्वती के पिता को अपना अपमान महसूस हुआ और क्रोध में उन्होंने अपनी पुत्री की शादी एक धनी विधुर से तय कर डाली। एक रात पार्वती बिना आगा-पीछा सोचे देवदास के पास इस रिश्ते के खिलाफ मदद माँगने गयी। परंतु देवदास में अपने माता-पिता की इच्छाओं के खिलाफ जाने का साहस नहीं था।

उन्माद और निराशा से भरा देवदास बिना पार्वती से मिले कलकत्ता लौट गया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। उलझन भरी स्थिति में उसने पार्वती को पत्र लिखा कि वह देहरादून को भूल जाये, देवदास उससे प्रेम नहीं करता,

वह अपने माता-पिता की मर्जी के खिलाफ पार्वती से शादी नही कर सकता। उसने पत्र में यह झूठ तो लिख दिया परन्तु दिल यह गवारा नही कर सका और इसका प्रतिकार करने वह गाँव वापस लौट गया।

गाँव लौटकर वह पार्वती से मिला और उसके साथ सुलह करने की कोशिश की पर पार्वती नही मानी। देवदास के पत्र से उसका स्वाभिमान जागृत हो गया था। उसने देवदास से बात करना भी पसंद नही की और प्रेम निराशा का कड़वा घूँट पीकर देवदास कलकत्ता लौट गया। परंतु पार्वती की यादे उसे दिन-रात परेशान करती रही। उसका जीवन अब विकलता से भर उठा था।

मानसिक यातना के इस दौर से उबरने के लिए देवदास ने शराब पीना शुरू कर दिया। साथ ही अपने दोस्त चुन्नीलाल की सलाह पर वह एक सुन्दर नर्तकी चन्द्रमुखी के कोठे पर नियमित रूप से जाने लगा।

अपने नये घर में अपनी सादगी और स्नेही स्वभाव से पार्वती ने अपने वृद्ध पति, युवा पुत्र-पुत्रियों सभी का मन जीत लिया था। हालाँकि सभी उसकी तारीफ करते नही थकते थे परन्तु पार्वती के दिल को पल भी भी चैन नही था।

अपने पिता की मृत्यु पर देवदास अपने गाँव आया। उस समय पार्वती गाँव में ही थी। उसने वृद्ध नौकर धर्मदास के मुँह से देवदास के चारित्रिक पतन की कथा सुन पार्वती देवदास से मिलती है और उससे शराब छोड़ने का वादा माँगती है, परंतु देवदास ने ऐसा कोई वादा नही किया। उसने इतना वादा जरूर किया कि अपनी मौत से पहले एक बार वह पार्वती के गाँव आयेगा।

इधर देवदास के प्रेम ने चन्द्रमुखी के जीवन की कालापलट ही कर दी। उसने अपने तड़क-भड़क वाले जीवन को त्याग कर एक सीधी-सादी जिंदगी शुरू की। उसके इस परिवर्तन पर देवदास भी दंग रह गया। चन्द्रमुखी ने भी देवदास से शराब छोड़ने का असफल आग्रह किया। पर पार्वती के इश्क का गम गलत करने के लिए देवदास शराब की शरण में जाने के लिए मजबूर था।

एक दिन आया जब देवदास का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। डॉक्टर ने उसे सलाह दी कि वह हवा-पानी बदलने के लिए कहीं ओर चला जाये। चन्द्रमुखी ने उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए उसके साथ जाना चाहा पर देवदास इस बात पर सहमत न था। बूढ़े धर्मदास के साथ देवदास जगह-जगह घूमा। यह कभी न खत्म होने वाली यात्रा थी, जिसका कोई निश्चित लक्ष्य न था। एक रात देवदास की तबियत अचानक ज्यादा खराब हो गयी। खून की उल्टियों ने उस यह जतला दिया कि उसकी मृत्यु निकट है। ऐसे में भी वह पार्वती से किये गये अपने वादे को नही भूला। मौत से पहले उसे अपना वादा निभाना ही था।

आधी रात को वह अकेला ही एक स्टेशन पर उतर गया। एक बैलगाड़ी वाले ने उसे रात भर में पार्वती के गाँव पहुँचाने का वचन दिया। देवदास वहाँ जल्द से जल्द पहुँच जाना चाहता था। अलस्सुबह पार्वती के घर के सामने देवदास ने अंतिम साँस ली। जब पार्वती ने मरने वाले के बारे में जानना चाहा तो उसे बताया गया कि उसके गाँव का देवदास नाम का एक आदमी मर गया है।

निर्माण संस्था: **बिमल रॉय प्रॉडक्शन्स**/ निर्माता-निर्देशक: बिमल रॉय/ कथा: शरत्चंद्र चटर्जी के उपन्यास पर आधारित/ पटकथा: **नबेन्दु घोष**/ संवाद: राजेन्द्र सिंह बेदी/ गीत: साहिर लुधियानवी/ संगीत: **एस.डी बर्मन**/ छायांकन: **कमल बोस**/ ऑडियोग्राफी: ई.एम. सूरतवाला/ संपादन: ऋषिकेश मुखर्जी/ कला: **सुधेन्दु राय**/ पात्र: **दिलीप कुमार, वैजयंतीमाला, सुचित्रा सेन, मोतीलाल, बेबी नाज, नाजिर हुसैन, कम्मो, कमला मुखर्जी, कमल प्रतिमा देवी,** अशीम कुमार, राम कुमार, बेबी चाँद, **कन्हैयालाल, मुराद, इफ्तिखार, प्राण, जॉनी वाकर।**

परिवार

(हिन्दी/१९५६)

परिवार एक परिवार की कहानी है जिसमें पाँच भाई, उनकी पत्नियाँ और उनके पुत्र रहते हैं।

सबसे बड़े भाई एक सेवानिवृत्त प्रोफेसर का दिल शतरंज में इतना रमता है कि वह अपने छोटे भतीजे के साथ ही खेलता रहता है जो नाम-मात्र का प्रतिद्वंद्वी है। दूसरा भाई-एक वकील है और उसका अधिकांश समय कानून की किताबों के नाम होता है। तीसरा भाई- इंजीनियर होने के बावजूद पकवान खाने में ज्यादा रुचि रखता है। चौथा भाई- एक डॉक्टर है और पूरे परिवार के स्वास्थ्य की फिक्र करना उसकी सनक है। पाँचवें और सबसे छोटे भाई ने हाल ही में एम.ए. पास किया है। वह संगीत के पीछे पागल है और न सिर्फ वह खुद दिन भर गाता रहता है बल्कि वह चाहता है कि उसकी पत्नी उसके साथ नाचे भी।

सबके शौक अलग-अलग होने के बावजूद परिवार में अमन-चैन है। सभी भाई एक-दूसरे को स्नेह करते हैं और उनकी पत्नियाँ भी एक-दूसरे को चाहती हैं। पूरा कस्बा उनकी एकता पर ईर्ष्या करता है।

सभी भाई इस गुमान में जीते हैं कि परिवार में एकता उन्हीं के कारण है- आदर्श भाईयों के कारण। वे अपनी पत्नियों से इस बारे में बढ़-चढ़ कर बातें करते हैं।

उनकी पत्नियाँ इन गर्वोक्तियों से तंग आकर यह सिद्ध करने की ठान लेती हैं कि परिवार की एकता में उनका योगदान भी कुछ कम नहीं है। वे यह मानती हैं कि महिलाओं के आपसी स्नेह और समझदारी के अभाव में किसी भी परिवार में सुख-शांति नहीं रह सकती।

और वे यह सिद्ध करने उतर पड़ती हैं। उनकी गुपचुप बातें होती हैं, योजनाएँ बनती हैं और फिर वे अपना जाल फेंकती हैं।

डॉक्टर को यह यकीन दिलाया जाता है कि उसके इकलौते पुत्र को भूखा रखा जा रहा है, जबकि बाकी बच्चों को भरपेट खाना खिलाया जा रहा है।

संगीत प्रेमी को यह विश्वास दिलाया जाता है कि उसकी नयी-नवेली दुल्हन के साथ उसे कस्बे से बाहर भेजने के प्रयास किये जा रहे हैं।

इस कारण डॉक्टर अपना हिस्सा माँगता है और संगीत प्रेमी उसका समर्थन करता है। बाकी भाई ठगे रह जाते हैं।

काफी गर्मागर्मी होती है, अतीत की छोटी-छोटी बातें तूल पकड़ लेती हैं और इस तरह घर भर में अशांति का साम्राज्य हो जाता है। अपनी इस सफलता से पत्नियाँ हर्षित हो जाती हैं। उनमें से एक इस बात पर चिंतित भी होती है कि

मजाक-मजाक में कोई गंभीर बात न हो जाये। वह इस सब को जल्द से जल्द खत्म करना चाहती है परन्तु बाकी चार उसे ऐसा करने से रोकती है और इस मजाक को वहीं खत्म नहीं करने देती।

बात बढ़ते-बढ़ते एक वक्त ऐसा आता है जब सभी भाई बँटवारा चाहते हैं, यहाँ तक कि यह भी तय कर लिया जाता है कि बँटवारे में किसको क्या दिया जायेगा। तब पत्नियाँ हस्तक्षेप करके स्थिति को अपने नियंत्रण में करती है और तथाकथित आदर्श भाईयों में फिर सुलह करवा देती है।

निर्माण संस्था **बिमल रॉय प्रोडक्शन्स**/ निर्माता **बिमल रॉय**/ निर्देशक **असित सेन**/ कथा **पंचू गोपाल मुखर्जी**/ संवाद **पॉल महेन्द्र**/ गीत **शैलेन्द्र**/ संगीत **सलील चौधरी**/ छायांकन **मोटू बोस**/ आर्टिडायरेक्शन **जार्ज डी' क्रुज**/ संपादन **दास दडमडे**/ कला **सुधेन्दु राय**/ पात्र **दुर्गा खोटे, बिपिन गुप्ता, उषा किरन, किशोर कुमार, जयराज, कुमुद, सज्जन, सविता चटर्जी, अशीम कुमार, धुमाल, आगा, विक्रम कपूर, जमाल, पप्पू, विजय कुमारी, देवी चाँद।**

अपराधी कौन

(हिन्दी/१९५७)

जौनपुर के जमींदार जोगेश्वरबाबू ने एक बार अपने पुत्र दीनानाथ को जायदाद से बेदखल कर दिया था क्योंकि वह जमींदारी प्रथा का विरोध करता था। उसकी जगह छोटे पुत्र दीनानाथ को जायदाद का एकमात्र वारिस नियुक्त कर दिया गया। अपनी मृत्यु से पहले जोगेश्वरबाबू को यह महसूस हुआ कि श्रीनाथ का चरित्र संदेहास्पद है। इसलिए उसने दूसरी वसीयत तैयार की जिसमें दीनानाथ को अपना एकमात्र वारिस नियुक्त कर दिया। पहली वसीयत श्रीनाथ के कब्जे में थी जबकि दूसरी वसीयत, जो असली थी, उसके विश्वासपात्र मित्र रायबहादुर जानकीनाथ के पास सुरक्षित रूप में रखी हुई थी।

श्रीनाथ ने गैर-कानूनी साधनों से जमीन तो हथिया ली, पर गंभीर बीमारी के कारण उसे अपने घर पर एक डॉक्टर और शोभा नाम की एक नर्स को सेवा के लिए रखना पड़ा।

गरीब और बेहाल दीनानाथ ने अनपेक्षित रूप से लौटकर श्रीनाथ को चुनौती दी। और श्रीनाथ कैबरे नर्तकी लिली के सहयोग से वास्तविक वसीयत हथियाने के प्रयास में रायबहादुर का अनचाहे में कत्ल कर बैठा।

कानून से छुपता हुआ श्रीनाथ खामख्वाह यह सोचने लगा कि उसकी पत्नी खतरे में है। उसने शहर से प्रसिद्ध जासूस राजेश को सुरक्षा के लिए बुलवा भेजा। परन्तु राजेश के आने के तत्काल बाद ही पुलिस ने श्रीनाथ को रायबहादुर के कत्ल के इल्जाम में गिरफ्तार करने के लिए उसके घर छापा मारा। जब तक श्रीनाथ के कमरे के दरवाजे खोले जाते, तब तक कातिल श्रीकांत का कोई और कत्ल कर चुका था। और इस कत्ल का सबूत था उसकी पीठ में घुपा हुआ खंजर।

इस रहस्य कथा में कई लोग संदेह के दायरे में आये, परंतु वास्तविक अपराधी वह निकला जिसके अपराधी होने की सबसे कम संभावना थी।

निर्माण संस्था **बिमल रॉय प्रोडक्शन्स**/ निर्माता **बिमल रॉय**/ निर्देशक **असित सेन**/ कथा **प्रेमेन्द्र**

मित्र/ पटकथा: रघुनाथ जहलानी/ संवाद: बृजेन्द्र गौर/ गीत: मजरूह सुल्तानपुरी/ संगीत: सलिल चौधरी/ छायांकन: कमल बोस/ आंडियोग्राफी: जॉर्ज डी' क्रूज/ संपादन: दास धाइमडे/ कला: सुधेन्दु राय/ पात्र: माला सिन्हा, अभि भट्टाचार्य, जागीरदार, कम्मो, धुमाल, पौल महेन्द्र, मुराद, कुमुद, त्रिपाठी, सतीश, विक्रम कपूर, शैलेन बोस, बिहारी, तरुण बोस, लिलियन।

गौतम बुद्ध

(फीचर वृत्तचित्र/१९५७)

इस पवित्र धरा पर मनीषियों, ऋषि-मुनियों का एक महत्वपूर्ण स्थान है उन्होंने जीवन की क्षणभंगुरता को पहचानकर आपाधापी भरा जीवन जी रहे देशवासियों को संदेश दिया है शांति का, प्रेम का, वैराग्य का।

इस पावन भूमि पर कवियों ने कल-कल करते ठंडे झरनों और सुगंधित वनों के गुण गाये हैं। बुद्धिमान और धैर्यवान लोगों वाले इस देश को ऐसा नही कि विपत्तियाँ या आपदाएँ झेलनी ही नही पड़ी। परंतु दुःखों की दास्तान यहाँ समय गुजरते ही भुला दी जाती है। यहाँ के लोग बस एक चीज कभी नही भूलते--अपने ऋषि-मुनियों, तपस्वियों के शिक्षाप्रद उपदेश, जिनके विचार आसमान की ऊँचाइयों को छूते हैं।

यह एक ऐसे ही तपस्वी ऋषि गौतम की कथा है, जिनके दया-धर्म के उपदेश ने संसार को उसी तरह भर दिया है जिस तरह से पानी समुद्र को भरता है।

गौतम बुद्ध कर प्रेरणादायक कथा विभिन्न युगों और देशों में सुनाई ही नहीं गई है बल्कि असंख्यक कलाकारों द्वारा इसे पत्थर में उकेरा भी जा चुका है।

निर्माण संस्था: फिल्म डिवीजन, भारत सरकार/ निर्माता: बिमल रॉय/ निर्देशक: राजबंस खन्ना/ संगीत: सलिल चौधरी/ छायांकन: दिलीप गुप्ता/ संपादन: ऋषिकेश मुखर्जी।

मधुमती

(हिंदी/१९५८)

अपनी पत्नी का तार पाकर देवेन्द्र तुरंत उसे लिवाने के लिए स्टेशन की ओर चल देता है। परंतु भारी वर्षा के कारण रास्ता खराब होने की वजह से उसे अपने डॉक्टर दोस्त के साथ एक पुराने महल में सिर छुपाने के लिए रुकना पड़ता है। यह सुनसान महल कई पीढ़ियों से एक राज-परिवार की संपत्ति है।

अंदर जाकर देवेन्द्र यह महसूस करता है कि वह यहां पहले भी कभी आया था। उसे वहाँ दीवार पर लगी एक तस्वीर की याद आती है और बूढ़ा चौकीदार बताता है कि वहाँ पहले एक तस्वीर अवश्य थी। डॉक्टर इस सब को देवेन्द्र के परेशान दिमाग का फितूर समझता है। परंतु नहीं, एक तस्वीर उसी जगह है जहां देवेन्द्र को याद था कि उसे होना चाहिए। घटनाएँ चित्रों की भांति उसके दिमाग के पर्दे पर गुजरती हैं। हाँ, वह वहाँ पहले भी एक बार आया था—आनंद के रूप में... वह राजा उग्रनारायण के लकड़ी के व्यवसाय का मैनेजर बनकर आया था और जैसे ही वह एक दिन कहीं गया उसकी मुलाकात एक चपल लड़की मधुमती से हुई। मधुमती पाहन की लड़की है जो पहाड़ी लोगों का निर्वासित राजा है।

मधुमती और आनंद का प्यार परवान चढ़ता है। उनके प्रेमरूपी वृक्ष की शाखें और पत्तियाँ प्रकृति की गोद में फलती-फूलती हैं, जब तक कि निर्दयी और कामांध उग्रनारायण उन्हें काटने का प्रयत्न नहीं करता। उग्रनारायण आनंद को किसी बहाने से दूर भेज देता है। इधर राजा का एक भ्रष्ट कर्मचारी वीरसिंह मधुमती को बतलाता है कि आनंद के साथ एक दुर्घटना हो गई है और महल में जिंदगी व मौत के बीच झूलते हुए उसके लबों पर बस मधुमती का ही नाम है। मधुमती का प्रेम और उसका भोलापन उसे उग्रनारायण के महल में जाने और उसके जाल में फँसने के लिए मजबूर करता है।

शहर से लौटकर आनंद सीधा मधु के घर पहुँचता है। वहाँ उसे पवन मिलता है जिसे झूठी खबर दी गयी थी कि मधु सिगड़ी से जलकर मर गयी है। आनंद और पवन मधु की बड़ी तलाश करते हैं। जब वे दोनों निराश होने लगते हैं तभी आनंद तुरंत महल में जाकर उग्रनारायण को ललकारता है, परन्तु उग्रनारायण के आदमी आनंद को बुरी तरह से पीटकर कहीं दूर फेंक आते हैं जब अस्पताल में आनंद को होश आता है तो उसकी जिंदगी का एक ही मकसद रह जाता है—उग्रनारायण को खत्म करना। परन्तु तभी उसकी जिंदगी में शहर की एक मुसस्कृत लड़की आती है जिसकी शक्ल आनंद की मधुमती से हूबहू मिलती है। और आनंद मधुमती के प्रेमजाल में अपने आपको बँधा महसूस करता है। जीवन का सबसे बड़ा सत्य प्रेम भी तकदीर का खेल बनकर रह जाता है। आनंद इस शहरी लड़की से (जो कहती है कि मधुमती नहीं है) अनुरोध करता है कि वह उग्रनारायण के खिलाफ उसकी मदद करे। योजना के अनुसार, आनंद महल में जाकर राजा को ललकारता है। ठीक उसी समय लड़की प्रकट होती है जो दुष्ट उग्रनारायण का अपराध कबूल करवाती है और अपना काम पूरा करके चली जाती है। तब सुसस्कृत शहरी लड़की वहाँ पहुँचती है और देरी से पहुँचती है और देरी से पहुँचने के लिए क्षमायाचना करती है। तो फिर क्या वह मधुमती का भूत था या आत्मा थी जो शरीर रूप में [illegible]

देवेन्द्र अपनी यादों को खत्म करता है। वह अपनी पत्नी से [illegible] लिए [illegible] होता है और महसूस करता है कि जिसमें सच्चा प्यार होता है, वह [illegible] मिलती है चाहे वह दूसरे जन्म में ही क्यों न मिले। इस [illegible] की पत्नी भी मधुमती जैसी ही थी।

निर्माण संस्था: बिमल रॉय प्रोडक्शन्स/निर्माता-निर्देशक: बिमल रॉय/[illegible] राजेन्द्रसिंह बेदी/गीत: शैलेन्द्र/संगीत: सलिल चौधरी/छायांकन: दिलीप गुप्ता/[illegible] बिमल बोस/संपादन: हृषीकेश मुखर्जी/कलानिर्देशक: सुधेन्दु राय/पात्र: दिलीप कुमार, वैजयंतीमाला, जॉनी वाकर, प्राण, [illegible], तिवारी, मिश्रा, शेख मुख्तार, भूडो अडवानी, जगदीश, [illegible], रजोत गुप्ता, [illegible], [illegible]

यहूदी

(हिन्दी/१९५८)

जिस दिन से मोज़ेस ने गुस्से में आकर यहूदियों को अभिशप्त होने के लिए शाप दिया था, उसी दिन से वह सारी मानवजाति की घृणा और उपेक्षा का पात्र है। शापित यहूदी गली में इधर से उधर घूम रहे हैं।

जैसा आज है, वैसा ही शक्तिशाली रोमन सम्राटों के दिनों में भी था। और यहूदी व्यापारी राजकुमार एज़रा, जो रोम में रहता था, अपनी जाति का अपवाद नहीं था। रोम के लोगों द्वारा विशेषकर घमंडी ब्रूटस के द्वारा एज़रा सताया जाता है। उसका दोष सिर्फ इतना है कि वह यहूदी है परन्तु अपनी सम्पत्ति के बलबूते पर एज़रा अपने अस्तित्व की रक्षा करने में सफल होता है, उस दिन तक जब उसका इकलौता पुत्र, उसका लाडला, उसकी पत्नी की आँखों का तारा यासीन खेलते हुए अनजाने में क्रोधी ब्रूटस को चोट पहुँचा देता है, जो उस समय एज़रा के घर के पास से गुजर रहा होता है।

यह गुनाह पर्याप्त था। इसी बहाने ब्रूटस एज़रा को तबाह करने, उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े करने का संकल्प लेता है। कांपता हुआ निर्दोष लड़का और मतवाली क्रूर भीड़ के सामने भूखे शेरों का भोजन बना दिया जाता है।

"आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत" यहूदियों के इस सिद्धान्त के अनुसार एज़रा का वफादार सेवक इलियास यासीन का बदला लेने की कसम खाता है। रात को ब्रूटस के घर में घुसकर वह उसकी इकलौती बच्ची डेसिया को उठा लाता है ताकि एज़रा अपना प्रतिशोध ले सके। पर एज़रा अपने प्यारे बच्चे की याद में इतना डूबा होता है कि उसे डेसिया में अपने बच्चे की प्रतिच्छाया दिखती है और वह उसे अपनी संतान की ही तरह पालने लगता है।

पन्द्रह साल गुजर जाते हैं। इस बीच एज़रा की इस लड़की के साथ जिसका नाम अब हान्ना है और जो एक सुन्दर युवती बन चुकी है, रोमन सैनिक छेड़छाड़ करते हैं। वहाँ से छद्म वेष में रोम का राजकुमार गुजर रहा होता है और वह हान्ना को बचाकर उसके घर सकुशल पहुँचाता है। उसी दिन से दोनों के बीच गहरी समझ का प्यार पल्लवित होता है जो गहरे प्रेम में तब्दील हो जाता है। यह रोमन राजकुमार जिसकी शादी राजकुमारी ऑक्टेविया से पहले ही तय हो चुकी थी, इस यहूदी लड़की के प्रेम में पागल होकर सब कुछ भूल जाना, ठुकरा देना चाहता है। वह एक यहूदी की वेषभूषा में हान्ना के घर आना-जाना है परन्तु एक दिन कुछ बातों से हान्ना को शक हो जाता है और वह राजकुमार से उसकी वास्तविकता जानना चाहती है। राजकुमार यह बताने पर मजबूर हो जाता है कि वह एक रोमन है पर वह हान्ना से सच्चे प्यार की दुहाई देता है और इस बात पर राजी कर लेता है कि वह उसके साथ भाग जाए।

जब एज़रा यह सुनता है तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता, पर आखिरकार वह इस शर्त पर हान्ना की शादी उससे करने पर तैयार करता है कि वह अपना धर्म छोड़ दे। राजकुमार इसके लिए तैयार नहीं होता और एज़रा उसे अपने घर से निकाल देता है।

राजकुमार अपनी तकदीर से हार मानकर राजकुमारी ऑक्टेविया से शादी करने का निर्णय लेता है। जिस दिन शादी हो रही होती है, एज़रा और हान्ना शादी देखने वहाँ पहुँचते हैं। हान्ना राजकुमार को पहचान लेती है और सम्राट के सामने उस पर बेवफाई का इल्जाम लगाकर न्याय माँगती है, ब्रूटस के यह कहने पर भी कि राजकुमार कानून से ऊपर होता है, राजा राजकुमार को गिरफ्तार करने और उस पर मुकदमा चलाने का आदेश देते हैं।

मुकदमे के दिन से एक दिन पहले अभिमानी ऑक्टेविया घुटने टेककर यहूदी की लड़की को अपना इल्जाम वापस लेने के लिए राजी कर लेती है और इस तरह राजकुमार दंड और अपमान से बच जाता है। राजकुमार तो मुक्त हो जाता है परन्तु घृणा से भरा ब्रूटस एजरा और हान्ना को इस दोष के कारण जिंदा जला देने का हुक्म देता है कि उन्होंने राजकुमार के खिलाफ झूठा दोषारोपण किया। इस दिन का इन्तजार तो यहूदी न जाने कब से कर रहा था। ऐन उस वक्त जब ब्रूटस घृणित यहूदी और उसकी लड़की को जिंदा जलाने वाला होता है एजरा ब्रूटस को अपहृत डेसिया की याद दिलाता है और यह कहता कि डेसिया जिंदा है तथा वह, केवल वही, उसके ठौर-ठिकाने के बारे में उसे बता सकता है।

ब्रूटस अपने पुत्री-प्रेम के वशीभूत होकर एजरा को धमकियाँ देता है, मिन्नतें करता है कि वह उसकी लड़की का पता दे। एजरा इस शर्त पर बताने पर तैयार होता है कि होता है कि ऐसा करने के ठीक बाद ब्रूटस पहलें हान्ना और एजरा को गर्म तेल के उबलते कड़ाहों में फिकवाने का आदेश दे देगा। ब्रूटस बिना कुछ सोचे इस पर सहमत हो जाता है और तब यहूदी हान्ना की असलियत जाहिर करता है। गर्वीला रोमन यहूदी एजरा से याचना करता है, परन्तु ब्रूटस, सम्राट, राजकुमार, ऑक्टेविया- किसी की भी याचना बूढ़े यहूदी और हान्ना को अपने निश्चय से नहीं डिगा पाती।

आखिरकार अच्छाई की विजय, बुराई की पराजय होती है। और दोनों प्रेमी अपने सपनों के लोक में स्वर्गिक आनंद के बीच पहुँच जाते हैं।

निर्माण संस्था: बॉम्बे फिल्म्स/निर्माता: सवाक बी. वाच्छा/निर्देशक: बिमल रॉय/कथा: आगा हश्र काश्मीरी/पटकथा: नबेन्दु घोष/संवाद: वजाहत मिर्जा/गीत: शैलेन्द्र और हसरत जयपुरी/संगीत: शंकर-जयकिशन/छायांकन: दिलीप गुप्ता/ऑडियोग्राफी: डिन्सा बिलमोरिया/संपादन: ऋषिकेश मुखर्जी/कला: सुधेन्दु राय/पात्र: सोहराब मोदी, दिलीप कुमार, मीना कुमारी, निगार सुल्तान, नासिर हुसैन, अनवर हुसैन, मीनू मुमताज, तिवारी, मुराद, इंद्रा, मुंशी, विक्रम कपूर, बेबी नाज, हेलन।

सुजाता

(हिन्दी/१९५९)

जिले के रेल्वे इंजीनियर उपेन्द्रनाथ चौधरी और उनकी पत्नी चारु की इकलौती पुत्री रमा है। परन्तु परिस्थितियां उनकी चौखट पर एक और लड़की को छोड़ जाती है। इस बच्ची के माता-पिता महामारी के शिकार हो चुके है। उसका पिता उपेन्द्र के ऑफिस में ही एक रेल्वे कुली था। रेल्वे कुली होने के साथ-साथ वह अछूत भी था।

उपेन्द्र का परिवार गिरिबाला नामक एक समृद्ध और पुरातनपंथी महिला का बड़ा आदर करता है। परन्तु इस बार जब वह घर पर आती है तो कई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं गिरिबाला इस पर हतप्रभ हो जाती है कि उसी छत के नीचे एक अछूत भी है और वह चाहती है कि उस बच्ची से जल्द से जल्द छुटकारा पा लिया जाये।

उपेन्द्र और चारु मन से एक ऐसा अछूत परिवार तलाशने की कोशिश करते है जो उसे पाल सके। पर ज्यादातर अछूत महामारी के कारण मर चुके हैं और जो मरे नहीं हैं वे महामारी के प्रकोप के डर से कहीं और भाग गये है। और बच्चे उपेन्द्र के

बचपन से ही पालती है।

अपने अच्छे स्वभाव से सुजाता नाम की यह अछूत लड़की अपने पालकों का मन जीत लेती है। रमा और सुजाता साथ खेलती-लड़ती-पढ़ती, एक-दूसरे के सुख-दुख में शरीक होती, बड़ी होती हैं। जैसे दो बहनें होती हैं।

रिटायर होने के बाद उपेन्द्र अपने पुराने कस्बे में लौट आता है। रमा और सुजाता दोनों ही अब आकर्षक युवतियाँ बन चुकी हैं। यहाँ सुजाता को पहली बार इस बात का आभास होता है कि उसके साथ भेदभाव किया जा रहा है। हर मिलने वालों को यह बताया जाता था कि रमा तो उनकी पुत्री है और सुजाता उनकी पुत्री जैसी है। इस बात से सुजाता को पीड़ा पहुँचती है और रमा को आश्चर्य होता है कि उसकी बहन के बारे में ऐसा क्यों कहा जा रहा है।

कई साल गुजर जाने के बाद भी गिरिबाला के विचार जरा भी नहीं बदलते। उनसे अब भी उपेन्द्र के परिवार में एक अछूत कन्या की उपस्थिति बर्दाश्त नहीं होती। गिरिबाला की यह अभिलाषा है कि उसके पोते/अधीर का रिश्ता रमा के साथ तय हो जाये। अधीर उपेन्द्र के घर अक्सर आने-जाने लगा। चारु और गिरिबाला दोनों ही उसकी आवाजाही पर खुश थे। उनके ख्याल से अधीर रमा के कारण आता है। उन्हें यह पता थोड़े ही था कि यह आकर्षक युवक सुजाता के प्रेमपाश में खिंचकर वहाँ चला आया करता है।

एक रात जब सारा परिवार नाटक देखने जाता है और सुजाता घर पर अकेली होती है तब अधीर को पहली बार अपनी प्रियतमा से एकांत में मिलने का अवसर मिलता है। गंगा किनारे गाँधी घाट पर अधीर अपने प्रेम का इजहार करता है। सुजाता की शंकाओं और डर के बावजूद वे दोनों हमेशा साथ निभाने की कसम खाते हैं। सुजाता की प्रसन्नता क्षणिक साबित होती है। उसे अपने सपनों का संसार बिखरता प्रतीत होता है जब उसे यह पता पड़ता है कि उपेन्द्र और चारु अधीर की शादी रमा के साथ करने की योजना बना रहे हैं। पाल-पोस कर बड़ा करने वाले परिवार के प्रति कृतज्ञास्वरूप वह अधीर को छोड़ देने का निर्णय करती है और उससे यह वचन लेना चाहती है कि वह भी सुजाता को भूल जाये। परन्तु अधीर एक प्रगतिशील बुद्धिजीवी होने के नाते ऐसी परंपराओं और संस्कारों से संघर्ष करता है जो मानव गरिमा के खिलाफ हैं। बड़ी नाजुक परिस्थितियों में यह सिद्ध होता है कि सबका खून एक-सा होता है और जातियाँ या वर्ग भगवान ने नहीं बल्कि इन्सान ने बनाये हैं। हृदय परिवर्तन होता है, विचारधाराएँ बदलती हैं और एक अछूत कन्या ब्राह्मणों के घर ब्याही जाती है।

निर्माण संस्था : **बिमल रॉय प्रोडक्शन्स**/निर्माता-निर्देशक : बिमल रॉय/कथा : **सुबोध घोष**/पटकथा : **नबेन्दु घोष**/संवाद : **पॉल महेन्द्र**/गीत : **मजरूह सुल्तानपुरी**/संगीत : एस.डी. बर्मन/छायांकन : कमल बोस/ऑडियोग्राफी : **एस्सा एम. सूरतवाला**/संपादन : **अमित बोस**/कला : सुधेन्दु राय/कलाकार : नूतन, सुनील दत्त, शशिकला, ललिता पवार, तरुण बोस, सुलोचना, असित सेन, पाल महेन्द्र, अशोक कुमार, बैज शर्मा, ब्रह्म दत्त, मोनी चटर्जी, सावित्री, शिओजी भाई, मास्टर मोहन, बेबी फरीदा, बेबी शोभा।

परख

(हिन्दी/१९६०)

एक सुबह राधा नगर नामक छोटे से गाँव के पोस्ट मास्टर को पाँच लाख रुपए का चैक मिलता है। सर जे.सी. राय द्वारा भेजे गये इस चैक के साथ यह निर्देश भी है

कि इसे गाँव के सबसे अच्छे आदमी को दे दिया जाये। सीधे-सादे पोस्टमास्टर को इस चैक के कारण रात भर नींद नहीं आती। आखिरकार वह निर्णय करता है कि वह गाँव के पाँच बड़े लोगों की सलाह से काम करेगा। इस असाधारण विचार-विमर्श के लिए इन पाँच लोगों को आमंत्रित किया जाता है—जमींदार तांडव तरफदार, पुजारी तारकालेकर, यूनियन बोर्ड के अध्यक्ष हरिहर भुल, गाँव के डाक्टर हरि और युवा शिक्षक रजत।

परंतु पाँच इस पर सहमत नहीं होते कि गाँव का सबसे अच्छा आदमी कौन है। काफी बहस के बाद यह तय होता है कि गाँव के लोगों से यह चुनाव करवाया जाये कि पाँच महत्वपूर्ण आदमियों में सबसे अच्छा कौन है।

रातों-रात उम्मीदवारों के नारों से गाँव की सुख-शांति भंग हो जाती है। डॉक्टर पहल करके अपनी डिस्पेंसरी को निःशुल्क और परोपकारी संस्था में बदल देता है। जमींदार अपनी गर्वीली शहरी भतीजी के साथ खुले आम यह घोषणा करता है कि जमीन के सारे पिछले कर माफ समझे जाएँ। साहूकार भी पीछे नहीं रहता और कांट्रेक्टर को कहकर गाँव वालों के लिए दर्जनों नलकूप खुदवा देता है। पुजारी एक दैवी चमत्कार करता है और देवी लक्ष्मी घाट पर प्रकट होती दिखती हैं।

गरीब गाँव वाले उम्मीदवारों के इस सेवाभाव और त्याग से दुविधा में पड़ जाते हैं। केवल शिक्षक, जो सामाजिक कार्यकर्ता होने के कारण पहले से ही काफी लोकप्रिय है, इस दौरान कोई नयी सेवाभावी योजना शुरू नहीं करता।

उसकी लोकप्रियता से ईर्ष्या करने वाले उसके दो प्रतिद्वंद्वी पुजारी और साहूकार उसके अनैतिक व दुष्चरित्र होने की अफवाह उड़ता हैं। वे बताते हैं कि पोस्टमास्टर की लड़की सीमा को शिक्षक के घर संदिग्ध परिस्थितियों में देखा गया है। रजत और सीमा का प्यार गाँव भर की औरतों की चर्चा का विषय बन जाता है। केवल गाँव का गरीब डाकिया हरधन उम्मीदवारों की असलियत जानता है। वह शायद बहुत पहले से यह जानता था कि गाँव का सबसे अच्छा आदमी कौन है। अंततः चुनाव का दिन आता है। साहूकार और जमींदार अपने आदमियों को भेजते हैं ताकि मतदाताओं से अपनी तरफ वोट डलवाये जा सकें और पाँच लाख रुपए हासिल कर लिए जाएँ।

इस सब में मजे की बात यह है कि डाकिया हरधन ही छद्म वेष में सर जे.सी. राय निकलता है। वह अपने को प्रकट करता है। इस नाटक के पीछे छुपे विचार भाव को स्पष्ट करता है और अंत में यह देखता है कि पैसे का सही उपयोग हो। साथ ही वह बिछड़े हुए प्रेमियों को मिलाता भी है।

निर्माण संस्था: बिमल रॉय प्रोडक्शन्स/निर्माता-निर्देशक: बिमल रॉय/कथा: सलिल चौधरी/संवाद: शैलेन्द्र और पौल महेन्द्र/गीत: शैलेन्द्र/संगीत: सलिल चौधरी/छायांकन: कमल बोस/आर्डियोग्राफी: जॉर्ज डी 'क्रूज/संपादन: अमित बोस/कला: सुधेन्दु रॉय/पात्र: मोतीलाल, साधना, बसंत चौधरी, दुर्गाखोटे, नासिर हुसैन, लीला चिटनिस, निशी, कन्हैयालाल, शीला राव, जयंत, रुबी पॉल, राशिद खान, मुमताज बेगम, असित सेन, सरिता देवी, पौल महेन्द्र, मेहर बानो।

उसने कहा था

(हिन्दी/१९६०)

बारह साल का शरारती लड़का नन्दू अमृतसर की गलियों-बाजारों में कूदता-

फांदता, कभी लड़कों को परेशान करता, कभी लड़कियों को चिढ़ाता हुआ घूमता है।

इसी शरारती लड़के की एक दिन कमली से मुलाकात होती है। परिचय के पल भर बाद ही वह उससे पूछता है "तुम्हारी सगाई हो गयी?" आठ साल की लड़की इस बात पर लजाकर भाग जाती है।

दस साल बाद नन्दू और कमली एक बार फिर मिलते हैं, और देखते ही एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। वह उससे झट पूछता है, "तुम्हारी सगाई हो गयी?" उसकी इस दिलेरी पर कमला का चेहरा शर्म से लाल हो जाता है और स्नेहिल नजरों से उसे देखती हुई वह भाग जाती है, पर उसके कानों में उसकी खनखनाती हँसी की आवाज रह जाती है।

नन्दू की माँ उन दिनों शादी की बात चलाती है, पर कमली के घर वाले इस रिश्ते के लिए बिल्कुल तैयार नहीं होते। उन्हें इस बात पर आपत्ति है कि नन्दू कमाता-धमाता नहीं है। बूढ़ी माँ तो सिर झुकाकर चली आती है पर नन्दू को बात लग जाती है। वह जल्दी कुछ करने की, कुछ बनने की ठान लेता है और कमली को हासिल करने की तमन्ना उसे सेना में भर्ती करवा देती है। पर जब वह लौटता है तब उसे पता पड़ता है कि कमली किसी ओर की हो चुकी है। नन्दू पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है, उसके सपने खाक में मिल जाते हैं। टूटा हुआ दिल लेकर हताश, निराश नन्दू अपनी रेजीमेंट में लौट जाता है।

लड़ाई छिड़ जाने पर अलग-अलग मुख्यालयों के सैनिक अम्बाला में इकट्ठे होते है ताकि वहाँ से वे जंग के मुकाम पर पहुँच सकें। अम्बाला स्टेशन पर नन्दू का कमली से सामना हो जाता है। यह बड़ा नाजुक, बड़ा ही खतरनाक क्षण है। कमली उसे इतने समय बाद देख रही थी और नन्दू इस अचरज में था कि वह किसे छोड़ना आयी है। वहाँ नन्दू को पता नहीं पड़ता कि कमली की शादी हवलदार रामसिंह से हुई है जो उसकी टुकड़ी का नायक है। मानसिक यातना सहन न होने के कारण नन्दू वापस जाने लगता है परंतु कमली उसे वापस बुलाती है। नन्दू रुकता, घूमता, उसे देखता है। कमली कुछ कहती है, नन्दू उससे कोई वादा करता है और आखिरी बार कमली का चन्द्रमुखी चेहरा देखते हुए नन्दू चला जाता है।

जंग में नन्दू की टुकड़ी हमले के लिए भेजी जाती है। उस पर दुश्मन घात लगाकर हमला करते हैं और असाधारण बहादुरी दिखाते हुए नन्दू हार को जीत में बदल देता है। सबसे बड़ी बात तो यह कि कमली के पति को सुरक्षित रखने का वादा, जो उसने कमली से किया था, वह वादा नन्दू अपनी जान गँवाकर भी पूरा करता है।

निर्माण संस्था: **बिमल रॉय प्रोडक्शन्स**/निर्माता: **बिमल रॉय**/निर्देशक: **मोनी भट्टाचार्य**/कथा: **चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी का रूपांतरण**/पटकथा: **एस. खलिल, भानुप्रताप**/संवाद: **एस. खलिल**/गीत: **शैलेन्द्र और मखदूम मायुद्दीन**/संगीत: **सलिल चौधरी**/छायांकन: **दिलीप गुप्ता**/ऑडियोग्राफी: **एस्सा एम. सूरतवाला**/संपादन: **अमित बोस**/कला: **सुधेन्दु रॉय**/पात्र: **सुनील दत्त, नंदा, दुर्गा खोटे, इंद्राणी, तरुण बोस, राजेन्द्रनाथ, राशिद खान, असित सेन, मिश्रा, रूबी पॉल, सुशील कुमार, बेबी शोभा, बेबी फरीदा, सरिता देवी।**

काबुली वाला

(हिन्दी/१९६१)

बच्चे उसे काबुली वाले के नाम से जानते थे। पर वे उससे डरते थे, उसका डील-डौल इतना बड़ा व भारी-भरकम जो था।

सब भले आदमियों की तरह काबुली वाला भी बच्चों से प्रेम करता था। वह उनसे पिस्ता-बादाम मुफ्त में बाँटा करता था। काबुलीवाला अपनी बच्ची, अपना देस छोड़कर पैसे कमाने कलकत्ता आया था। उसे अपनी बच्ची की बहुत याद आती थी। एक दिन उसे शहर में एक बच्ची मिनी दिखी, जिसकी उम्र उसकी बच्ची जितनी ही है। उसे मिनी से गहरा लगाव हो गया और दोनों में एक मधुर संबंध बन गया। काबुली वाले की आवाज पर बच्ची घर से दौड़ी-दौड़ी आँगन में चली आती थी। शरारती बच्ची मिनी और भारी-भरकम पठान आपस में बातें करते थे, खेलते थे, हँसते थे और दुनियावी झंझटों को भूल जाते थे। मिनी की माँ और पुराने खयालों के एक नौकर को दोनों का यह मेल-जोल पसंद नहीं आता था परंतु मिनी के लेखक पिता को यह अच्छा लगता था।

भाग्य हस्तक्षेप करता है और एक दुर्घटना घटती है जब गर्मागर्मी में पठान अपने कर्जदार को चाकू मार देता है और कई सालों के लिए जेल चला जाता है।

वे फिर मिलते हैं–पर अब काबुली वाले के बाल सफेद हो चुके हैं, उसके चेहरे पर अब झुर्रियाँ पड़ चुकी हैं। इधर मिनी भी अब छोटी बच्ची नहीं रही। वह युवा हो गयी है और उसकी शादी होने वाली है। काबुली वाला उसके बारे में अब भी छोटी शरारती मिनी के रूप में सोचा करता था। उसे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि युवा मिनी उसे पहचान भी नहीं पायी। वह नये सिरे से पैसा कमाकर अपने देस काबुल लौटना चाहता है। मिनी के माता-पिता काबुली वाले को उसके देस जाने के लिए रुपये दे देते हैं ताकि वह अपनी बिछुड़ी युवा पुत्री से फिर से मिल सके।

निर्माण संस्था: बिमल रॉय प्रोडक्शन्स/निर्माता: बिमल रॉय/निर्देशक: हेमेन गुप्ता/कथा: रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी पर आधारित/संवाद: एस. खलिल/गीत: प्रेम धवन और गुलजार/संगीत: सलिल चौधरी/छायांकन: कमल बोस/ऑडियोग्राफी: एस्सा एम. सूरतवाला/संपादन: मधु प्रभाकर/कला: सुधेन्दु राय/पात्र: बलराज साहनी, उषा किरण, सज्जन, असित सेन, पौल महेन्द्र, सोनू, डब्ल्यू. एम. खान, सरिता देवी, सारंग कुमार, अनवरीबाई, राज वर्मा, लक्ष्मी, समर चटर्जी, पद्मा, सत्येन्द्र कुमार, लीला, आगा।

प्रेम पत्र

(हिन्दी/१९६२)

मेडिकल कॉलेज में पढ़ रहा आकर्षक नवयुवक अरुण ऊँची पढ़ाई के लिए इग्लैंड जाने के लिए मिलने वाली छात्रवृत्ति पाने से वंचित रह जाता है। कारण यह है कि उसके साथ पढ़ने वाली छात्रा कविता ने उस पर झूठा इल्जाम लगाया कि अरुण ने उसे एक प्रेमपत्र लिखा है।

किसी तरह से वह इग्लैंड जाने के लिए पैसे का प्रबंध कर लेता है। पर इस प्रक्रिया में उसकी तारा से सगाई हो जाती है जिसे उसने कभी देखा भी नहीं है। इस बीच पश्चाताप कर रही कविता अरुण से मूक प्यार करने लगती है।

अरुण और तारा के बीच प्रेम पत्रों का आदान-प्रदान होता है। अरुण को तारा के लिखे पत्र पढ़कर खुशी होती है। वह इस बात पर खुश है कि हालांकि उसने तारा को कभी देखा नहीं है, पर तारा ही वह लड़की है जिससे वह शादी करना चाहेगा।

दूसरी तरफ वह कविता को कभी नहीं भुला पाता जिसके झूठे इल्जाम के कारण उसे छात्रवृत्ति से महरूम कर दिया गया था। तारा को लिखे पत्रों में कविता के प्रति उसकी इस घृणा का इजहार भी जब तब होता था।

यहां गड़बड़ इतनी-सी होती है कि तारा कविता की नजदीकी रिश्तेदार है। तारा गांव की एक सीधी-सादी लड़की है और कविता ही है जो तारा के नाम से अरुण को प्रेमपत्र लिखा करती है।

पर यह कब तक छुपता? एक दिन अरुण अंधा, निस्सहाय, बीमार घर लौटता है। प्रयोगशाला में हुई एक दुर्घटना में उसकी आँखें चली गयी हैं। तारा के नाम से कविता उसकी सेवा-सुश्रूषा करती है। वह दिन भी आता है जब आँखों के ऑपरेशन के बाद अरुण की आँखों की पट्टी खुलने को होती है। अब कविता अरुण से दूर जाना चाहती है। उसे डर है कि उसे देखकर अरुण भड़क उठेगा। परन्तु अरुण तारा को यह कहकर अस्वीकार कर देता है कि यह वह लड़की नहीं है जिसे वह आवाज और स्पर्श से पहचानता है। आखिरकार सारे राज खुलते हैं, और प्रेमी मिलते हैं।

निर्माण संस्था: **विमल रॉय प्रोडक्शन्स**/निर्माता-निर्देशक: **विमल रॉय**/कथा: **निताई भट्टाचार्य**/पटकथा: **सलिल चौधरी**/संवाद: **राजेन्द्र कृष्ण**/गीत: **राजेन्द्र कृष्ण**/संगीत: **सलिल चौधरी**/छायांकन: **एम.आर. पिटले**/संपादन: **अमित बोस**/पात्र: **साधना, शशि कपूर, सीमा, चांद उस्मानी, सुधीर, राजेन्द्रनाथ, परवीन चौधरी, माधवी, कानु राय, बिश्वास, वार्डे, पद्मा देवी, राधेश्याम, बेला बोस, केश्टो मुकर्जी।**

बंदिनी

(हिन्दी/१९६३)

वह एक ऐसी बंदी थी जो सामान्य से हटकर थी-युवा, निर्दोष दिखने वाली, अच्छा व्यवहार करने वाली और हर एक की मदद के लिए हमेशा तैयार। ऐसी लड़की अपराध कैसे कर सकती है? हर कोई यह जानने के लिए उत्सुक था, परंतु उसके अतीत के बारे में कोई नहीं जानता था। जेल का आकर्षक डॉक्टर देवेन्द्र भी नहीं, जो उसे प्यार करने लगा था। हालाँकि कल्याणी के कैदी होने के कारण उस पर सामाजिक लांछन लगा हुआ था, तो भी देवेन्द्र ने उसके सामने प्यार का इजहार कर दिया और शादी करने की इच्छा जाहिर की। परंतु कल्याणी ने उसे कोई जवाब नहीं दिया।

आखिरकार दयालु जेलर कल्याणी के कालिमामयी अतीत को उजागर करवाने में सफल हुआ। उसने कल्याणी को अपना अतीत की कहानी लिखने का सुझाव दिया। वह गाँव के पोस्टमास्टर की इकलौती लड़की थी। यह तब की बात थी जब भारत अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहा था। गाँवों की सीधी-सपाट जिंदगी में उस समय हलचल मची जब आतंकवादी नेता विकास घोष उनके गाँव में आकर रहने लगा। नेता के दृढ़ व मोहक व्यक्तित्व से लड़की के दिलो-दिमाग पर गहरा प्रभाव पड़ा। तकदीर की बात कि दूसरी जेल में तब्दील किये जाने से पहले नाटकीय परिस्थितियों में उसने कल्याणी को अपनी पत्नी घोषित कर दिया और यह कहा कि जैसे ही वह जेल से छूटेगा वह कल्याणी से विवाह कर लेगा।

समय बीतता है। कल्याणी अब भी उस आदमी का इंतजार कर रही थी जिसने उसे अपनी पत्नी घोषित किया था। परंतु उसे विकास की कोई खबर न मिली, न ही उसके खतों के जवाब आए। और जब विकास का खत आया तो उसके शब्दों ने हथौड़ों की तरह उसके हृदय पर आघात किये। उसका होने वाला पति जेल से छूटकर शहर में ही बस गया था और उसकी शादी किसी और से हो गयी थी। गांव में यह खबर आग की तरह फैल गयी। बूढ़े पोस्टमास्टर ने अपने को बड़ा अपमानित महसूस किया। दुःख और शर्म से भरी कल्याणी एक रात अपना गाँव छोड़कर चली पड़ी।

परिस्थितियों की मारी भागी लड़की तूफानी समुद्र में भटकती छोटी नौका की तरह इधर से उधर, उधर से इधर धकेली जाती है। दुर्भाग्य उसका पीछा नहीं छोड़ता। उसके गमों का प्याला तब भर जाता है जब उसे एक कैदी मानकर जेल भेज दिया जाता है। वह एक अस्पताल में नर्स के रूप में चिड़चिड़ी महिला की सेवा-सुश्रूषा करती है जो और कोई नहीं विकास की पत्नी थी। और कल्याणी ने उसे जहर दे दिया।

तो यह था उसका अतीत जो किसी काल्पनिक कथा से कम अजीब नहीं था। परंतु यहीं उसकी विपदा का अंत नहीं होता। सबसे दुविधाजनक क्षण तब आता है जब विकास और देवेन्द्र से उसका टकराव होता है। अपनी जिंदगी के दोराहे पर खड़ी कल्याणी को इन दोनों में से किसी एक को चुनने का कठिन निर्णय लेना है। देवेन्द्र के घर वाले उसे अपनी बहू के रूप में स्वीकारने के लिए तैयार हैं।

पर रास्ते में जहाज छोड़कर ट्रेन पकड़ते हुए उसे विकास मिलता है, जो बहुत बीमार है। वह कल्याणी को अपने अतीत के बारे में बताता है कि किस तरह से पार्टी के प्रति वफादारी ने उसे किसी और महिला से शादी करने के लिए विवश किया। विकास का जहाज और देवेन्द्र की रेल दोनों छूटने जा रहे हैं। पल भर में कल्याणी निर्णय लेती है और उस आदमी का दामन थामती है जिसे वह हमेशा से अपना प्रियतम और पति मानती रही है।

निर्माण संस्था: **बिमल रॉय प्रोडक्शन्स**/निर्मात-निर्देशक: **बिमल रॉय**/कथा: **जरासंध**/पटकथा: **नबेन्दु घोष**/सवाद: **पौल महेन्द्र**/गीत: **शैलेन्द्र और गुलजार**/संगीत: **एस.डी. बर्मन**/छायांकन: **कमल बोस**/ऑडियोग्राफी: **डिन्सा बिलमोरिया**/संपादन: **मधुकर प्रभाकर**/कला: **सुधेन्दु राय**/पात्र: **अशोक कुमार, नूतन, धर्मेन्द्र, राजा पराजपे, तरुण बोस, असित सेन, चंद्रिमा भादुड़ी, मोनी चटर्जी, लीला, बेला बोस, देविका राय, रुबी पौल, साधना खोटे, इफ्तिखार, कुमुद शंकर।**

बेनजीर

(हिन्दी/१९६४)

"पिछली रात मैंने एक सपना देखा, बड़ा अजीब सा सपना ..." धुँध से ढँकी चौड़े पाट की नदी... डरावनी, भयावह... किनारे से काफी दूर, मुझे लहरों पर अठखेलियाँ करती एक छोटी नौका दिखती है। मुझे महसूस होता है कि उस नाव में कोई है... कोई ऐसा जिसे मैं नहीं जानती। वह मुझे बुला रहा है... मेरा शरीर, मेरी आत्मा जवाब में उठते हैं जैसे कि... मैं नहीं जानती क्यों..."

Gulzar.

एक पोर्ट्रेट
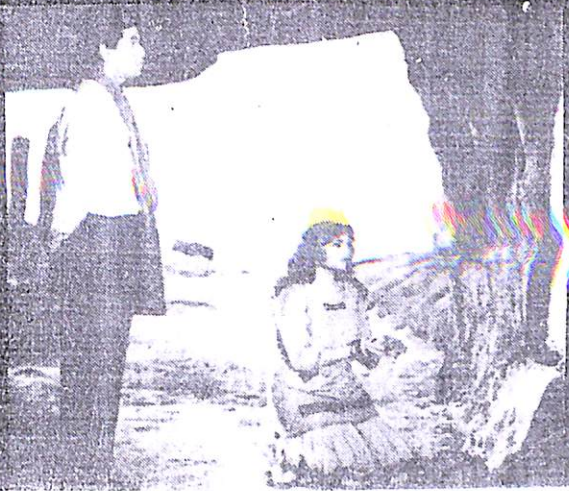
बिमल राय

शाम के कोहरे में बहता हुआ ख़ामोश नदी का चेहरा
गंदुमी कोहरे में जलते हुये आँखों के चिराग़
इक लगातार सुलगता हुआ सिगरेट का धुआँ
नींद में डूबी हुयी दूर की मद्धम आवाज़

अजनबी ख़्वाबों के उड़ते हुये सायों के तले
नक़्श चेहरे के, पिघलती हुयी मोम की मानिन्द
हर नये ख़्वाब की धुन सुन के बदल जाते हैं
ऐसा लगता है न सोयेगा, न जागेगा, न बोलेगा कभी
शाम के कोहरे में बहता हुआ ख़ामोश नदी का चेहरा

गुलज़ार